MATS UNIVERSITY

NAAC GRADE A+ ACCREDITED UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

हिन्दी साहित्य का इतिहास

बैचलर ऑफ़ आर्ट्स (बी.ए.)

प्रथम सेमेस्टर

SELF LEARNING MATERIAL

COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE

1- Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh
2- Dr. Sudhir Sharma , Subject Expert ,HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai
3- Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh
4- Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh
5- Dr. Rajesh Kumar Dubey , Subject Expert, Principal , Shahid Rajeev Pandey Government College ,Bhatagaon , Raipur ,Chhattisgarh

COURSE COORDINATOR

Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh

COURSE /BLOCK PREPARATION

Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh

March, 2025

ISBN-978-93-49916-37-1

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed & Published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhudu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

Disclaimer-Publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from contents of this course material, this is completely depends on AUTHOR'S MANUSCRIPT.
Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

विषय सूची

माड्यूल–1 हिंदी साहित्य का इतिहास **5**

1. इतिहास दर्शन और साहित्सेतिहास
2. हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा
   और साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएं
3. हिंदी साहित्य का इतिहासः काल–विभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण

माड्यूल–2 हिंदी साहित्य का आदिकाल **18**

4. नामकरण और सीमा
5. आदिकालीन परिवेश
6. अदिकालीन साहित्य वर्गीकरण
   (सिद्ध साहित्य, जैन सहित्य, नाम साहित्य, रासो साहित्य)
7. आदिकालीन कविता की प्रवत्तियाँ
8. गद्य साहित्य
9 आदिकालीन प्रतिनिधि रचनाकार

माड्यूल–3 हिंदी साहित्य का भक्तिकाल **49**

10. भक्तिकालीन परिवेश : ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक
11. भक्ति आंदोलन
12. संत काव्य धारा : वैशिष्टय और अवदान
13. सूफी काव्य धारा : वैशिष्टय और अवदान
14. राम काव्य धारा : वैशिष्टय और अवदान
15. कष्ण काव्य धारा : वैशिष्टय और अवदान
16. गद्य साहित्य
17. भक्तिकालीन काव्य की उपलब्धियां
18. भक्तिकाल ः स्वर्ण युग
19. भक्तिकालीन प्रतिनिधि साहित्यकार

माड्यूल–4 हिंदी साहित्य का रीतिकाल **90**

20. नामकरण
21 रीतिकालीन परिवेशः ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक
22. रीतिकालीन दरबारी संस्कृति और लक्षण–ग्रन्थों की परम्परा
23. रीति के प्रर्वतक आचार्य
24. रीतिकालीन काव्यधाराएँ (रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त)
25. रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ
26. गद्य साहित्य
27. रीतिकालीन प्रतिनिधि रचनाकार

118

Acknowledgement

The Material (Pictures and images) we have used is purely for educational purpose. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Sould any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future of this book.

ekMîy& 1

हिंदी साहित्य का इतिहास

1. इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास

इतिहास की जानकारी साहित्येतिहास की जानकारी को बढ़ाती है। इसलिए साहित्येतिहास को जानने से पूर्व इतिहास–दर्शन को जानना अति आवश्यक है।

1.1 इतिहास अर्थ और परिभाषाएँ

इतिहास शब्द इति+ह+आस से बना हैं जिसका शाब्दिक अर्थ–'ऐसा ही हुआ' है। शाब्दिक अर्थ को देखें तो पता चलता है कि इतिहास का संबंध अतीत से होता है और इसमें वास्तविक घटनाओं का सन्निवेश होता है। भारतीय पाश्चात्य विद्वानों ने इतिहास के व्यापक स्वरूप की विवेचना की है। विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

हीगल ने लिखा है–"इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण तथा संकलन मात्र नहीं हैं, अपितु उसके भीतर कार्य–कारण संबंध विद्यमान है।"

गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार–"अतीत के किसी भी तथ्य, तत्त्व या प्रवत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन, विश्लेषण को, जो कि काल विशेष या कालक्रम की दष्टि से किया गया हो, इतिहास कहलाता है।"

कालिंगवुड ने कहा है–"इतिहास धर्मशास्त्र या भूत विज्ञान की तरह एक चिन्तन पद्धति है। यह एक प्रकार का शोध है, खोज है, अन्वेषण है।"

गोविन्दचन्द पाण्डे के अनुसार–"इतिहास एक ऐसा ज्ञानमय अनुशासन है जिसके माध्यम से किसी देश की सभ्यता और संस्कृति को देखा, परखा, समझा जाता है।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इतिहास न केवन हमें घटना, तिथि और नामों का विवरण देता है, बल्कि इसमें घटना, स्थिति, प्रक्रिया और प्रकृति का सम्पूर्ण अनुशीलन किया जाता है। इतिहास से मनुष्य का नाता अत्यन्त पुराना है। मानव की समस्त क्रिया तथा प्रतिक्रिया आदि का समावेश इतिहास में किया जाता है। हमारे सारे संस्कार व्यवहार, संस्कृति सब को हम इतिहास की आँखों से देख सकते हैं। बिना अतीत को जाने वर्तमान स्वरूप को नहीं समझा जा सकता।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में अनेक घटनाएं घटती रहती हैं। घटनाओं का इतिहास बनता जाता है और वही इतिहास हमें अतीत से जोड़कर रखता है। इस प्रकार मनुष्य इतिहास–दर्शन और इतिहास–विवेक के नये गवाक्षों को खोलता है। इतिहास के विषय में कुछ भ्रम लोगों के मन में आते हैं कि इतिहास केवल खण्डित शवों, खण्डित जीवन या व्यर्थ बीते समय तक की जानकारी देता है जबकि वास्तविकता यह है कि इतिहास हमें नयी व्याख्या, नयी प्रेरणा और नयी दष्टि देता है। वह हमारे भावी जीवन का निर्माता होता है।

1.2 इतिहासकार एवं इतिहास बोध

एक सफल इतिहासकार घटनाओं, वत्तान्तों और तत्कालीन घटनाओं का लेखा–जोखा प्रस्तुत करता है और हमें अतीत की घटनाओं का बोध करवाता है। इतिहासकार अपने अध्ययन कार्य को दो तरह से प्रकट करता है। (i) तथ्यों की जाँच (ii) स्रोतों से तथ्यों का चुनाव। तथ्यों के चयन में इतिहासकार पूरी तटस्थता से कार्य करता है इसमें इतिहासकार जितना तटस्थ होगा, उसका इतिहास उतना ही प्रामाणिक और विश्वसनीय होगा। इतिहासकार की ईमानदारी और तटस्थ रूख उसके सच्चे इतिहास बोध का निर्माण करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यिक इतिहास के विषय में कहा है कि जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता जाता हैं। आदि से अन्त तक इन्ही चित्तवत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य–परम्परा के साथ उनका सांमजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। साहित्यकार के लिए परम आवश्यक होता है कि वह साहित्य एवं साहित्यिक विधाओं की पूर्ण जानकारी हासिल करके तथा साथ–साथ धर्म, दर्शन, समाज आदि को इतिहास में शामिल करे। तभी वह साहित्य के विश्वसनीय और प्रमाणिक इतिहास की रचना कर सकता है। 'साहित्येतिहास' शब्द का प्रयोग सबसे पहले वाल्तेयर ने 18 वीं शताब्दी में किया था। इसके बाद हीगेल तथा अनेक विद्वानों ने इस शब्द का प्रयोग किया। हीगेल का मानना है कि इतिहास–दर्शन का अर्थ इतिहास संबंधी चिन्तनयुक्त विचारों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आधुनिक काल में साहित्येतिहास लेखन की परम्परा को विशेष दर्जा दिया गया। जिससे यह एक दर्शन के रूप में माना जाने लगा है। इसके अध्ययन की पूर्व पीठिका को प्रस्तुत करना कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों, दार्शनिक, इतिहासकारों, आलोचकों और भारतीय विद्वानों ने इसके विकास एवं सिद्धांतों पर अलग–अलग मत व्यक्त किए हैं। विकासवादी सिद्धान्तों के अध्ययन में इतिहास की नई व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस सन्दर्भ में दार्शनिक कान्त का मत है कि सष्टि का बाह्य विकास प्रकृति की आन्तरिक विकास प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब मात्र है। हीगल के विचार इस प्रकार प्रस्फुटित हुए हैं–इतिहास केवल विद्यमान है। विश्व इतिहास की प्रक्रिया का मूल लक्ष्य मानव चेतना का विकास है जो द्वन्द्वात्मक पद्धति पर आधारित हैं। यह सिद्धान्त प्रकृति और भौतिक वस्तुओं के पारस्परिक द्वन्द्व को ही मान्यता देता है। इसके अनुसार दो परिस्थितियों, घटनाओं के परस्पर संघर्ष के पश्चात् जो तीसरी वस्तु सामने आएगी वह पहले से बेहतर अवस्था में होगी। यह बात समाज व भौतिक संसार की समस्त वस्तुओं पर लागू होती है। इस प्रकार इतिहास–दर्शन का यह विकासशील दष्टिकोण साहित्येतिहास–दर्शन को जानने के लिए उपयोगी एवं मान्य है। इसके अन्दर मानवीय समाज की समस्त परिस्थितियों का लेखा–जोखा होता है। इसीलिए साहित्य में तत्कालीन इतिहास मुखर हो पाने में समर्थ होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि साहित्य का इतिहास मात्र इतिहास ही नहीं होता बल्कि इसके माध्यम से युगीन इतिहास को भी प्रकट किया जाता है। साहित्येतिहास–दर्शन की इस विकासशील परम्परा का उल्लेख अनेक साहित्यकारों ने किया है।

1. **डा० नगेन्द्र के अनुसार**: उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कहा है कि "आज साहित्य का अध्ययन विश्लेषण केवल साहित्य तक सीमित रहकर नहीं किया जा सकता उसकी विषयगत प्रवतियों और शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उसे संबंधित राष्ट्रीय परम्पराओं सामाजिक वातावरण, आर्थिक परिस्थितियों, युगीन–चेतना एवं साहित्यकार की वैयक्तिक प्रवत्तियों का विश्लेषण विवेचन करना पड़ता है।"

2. **डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के अनुसार**: "साहित्येतिहास दर्शन सामान्य इतिहास दर्शन के समानान्तर होता है। उनके अनुसार साहित्य के इतिहास लेखक को उस सामाजिक संदर्भ को ध्यान रखना चाहिए जिसमें वह साहित्य प्रादुर्भूत हुआ है।" इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उल्लेखनीय है।

3. **ए० एच० काफे के अनुसार**: "साहित्येतिहास दर्शन के लिए युग–चेतना नामक सिद्धांत दिया है जिसके अनुसार साहित्य के इतिहास की व्याख्या तद्‌युगीन चेतना के आधार पर की जानी चाहिए। लेकिन इसके साथ ही पूर्ववर्ती परम्पराओं का भी कुछ–न–कुछ प्रभाव होता है।"

4. **तेन के अनुसार**: तेन ने अपने अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में यह भली–भाँति स्पष्ट किया है कि "किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परम्पराओं राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन विश्लेषण आवश्यक है। इसके लिए उसने जाति, वातावरण एवं क्षण विशेष के तीन तत्वों का उल्लेख किया है।"

1.3 साहित्येतिहास दर्शन के तत्व

विभिन्न विद्वानों के मतों को दष्टिगत रखते हुए साहित्येतिहास–दर्शन में उभरी निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया जा सकता है।

(i) **साहित्यकार की प्रतिभा**: साहित्येतिहास की मूल ताकत साहित्यकार की सजन–शक्ति ही होती है। इसके विकास का यही मूल है। इतिहास की व्याख्या से संबंध है। कई बार एक युग में रहने वाले एक ही प्रकार की परिस्थितियों का सामना करते हुए दो साहित्यकारों की रचना में काफी अन्तर देखने को मिल जाता है। साहित्य सजन शक्ति साहित्यकार की प्रतिभा से जुड़ी होती है। प्रतिभा व उसके व्यक्तित्व को समझे बिना साहित्यकार की सजन–शक्ति को पूर्णतः नहीं जाना जा सकता। साहित्य इतिहास दर्शन का विवरण प्रस्तुत करने में साहित्यकार की सजन–शक्ति व उसकी प्रतिभा का विशेष स्थान होता है।

(ii) **परिवेश तथा वातावरण**: साहित्येतिहास दर्शन में परिवेश तथा वातावरण बहुत–सी परिस्थितियों से निर्मित हुआ करता है। जो बस परिवेश–रचना को प्रभावित कर उसके भावपक्ष को संवारता है। आदिकालीन साहित्य में राष्ट्रीय भावना की कमी देखी जा सकती है, परन्तु तत्युगीन रियासतों में जो दढ़ राष्ट्रीय भावना बढ़ी उसी के परिणामस्वरूप रासो ग्रन्थ लिखे गये। यद्यपि साहित्यकार राजाश्रय में रचना कर रहा था, फिर भी वह तत्कालीन वातावरण के दायरे मे ही लिख रहा था। जो रचा जा रहा था, वह साहित्य के वातावरण का ही परिणाम रहा था। कहा जा सकता है कि तात्कालिक वातावरण से इस साहित्य का आकार निर्मित हुआ है।

(iii) **साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएं**: साहित्य की विधाओं एवं कृत्तियों के विकास में साहित्य की सम्यक् व्याख्या उससे संबंधित पूर्ववर्ती परम्पराओं के अध्ययन के बिना संभव नहीं है। साहित्य का उद्‌गम स्रोत खोजने के लिए इतिहासकार को केवल तत्कालीन परिस्थितियों पर ही नहीं, पूर्ववर्ती परम्पराओं पर भी विचार करना चाहिए। यदि हम भक्तिकाल में बहने वाली भक्ति की निर्गुण–सगुण भक्तिधारा का उत्स खोजने का प्रयास करें, तो उसके सूत्र सातवीं–आठवीं शती के दक्षिण में शंकराचार्य के अद्वैतावाद से जुड़े मिलते है। इसी प्रकार रीतिकालीन श्रंगार भावना का स्रोत अपभ्रंश के ग्रन्थों व संदेश रासक से अछूता

नहीं दिखाई पड़ता। इस प्रकार साहित्येतिहास के दर्शन के विकास में परम्परा का योगदान भुलाया नहीं जा सकता।

(iv) **द्वन्द्वात्मकता**: व्यक्ति संघर्ष के बिना अपना विकास नहीं कर सकता। द्वन्द्वात्मक परिस्थितियाँ ही सष्टि का मूलाधार है। कवि या साहित्यकार भी किसी न किसी द्वन्द्व से प्रेरित होकर ही साहित्य की रचना करता है। यह द्वन्द्व आन्तरिक भी हो सकता है और बाह्य भी। व्यक्तिगत द्वन्द्व के साथ–साथ आर्थिक द्वन्द्व, पारिवारिक द्वन्द्व सामाजिक द्वन्द्व एवं राष्ट्रीय द्वन्द्व भी साहित्य के विकास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कबीर की रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक द्वन्द्व झलकता है। समस्त भक्ति युग में तात्कालिक विभिन्न भक्ति–धाराओं के द्वन्द्व को देखा जा सकता है जिसमें तुलसी की समन्वय भावना का समावेश दिखाई पड़ता है।

(v) **संतुलन एवं सामंजस्य**: साहित्यकार नैसर्गिक प्रतिभा परम्परा और वातावरण के द्वन्द्व से प्रेरित होकर परम्परा और युगीन वातावरण के अन्तर्विरोध से उत्पन्न द्वन्द्व ही साहित्य के विभिन्न आन्दोलनों, उसकी धाराओं एवं प्रवतियों को गति देता हुआ साहित्य की विकास प्रक्रिया को संचालित करता है। उपर्युक्त आधारों का अवलोकन करने के पश्चात् हम साहित्येतिहास–दर्शन के संबंध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

साहित्य का इतिहास तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण का प्रतिबिम्ब होता है। साहित्य की प्रवत्तियाँ समाज की प्रवत्तियों पर प्रकाश डालती है। साहित्य का इतिहास साहित्य के उत्थान पतन की कहानी है। साहित्य के इतिहास को समझने के लिए रचनाओं एवं रचनाकारों और उनसे संबंधित स्थितियों, परिस्थितियों और परम्पराओं का ज्ञान होना आवश्यक है। साहित्य के विकास में युगीन–चेतना का ही नहीं, पूर्ववर्ती परम्पराओं का भी न्यूनाधिक योगदान रहता है।

साहित्येतिहास, कृतिकारों का ही ग्रन्थ नहीं होता है, अपितु वह काल प्रवाहित मानव समाज के विकास और उसकी विशेषताओं की लिपिबद्ध कथा है। उसे घटनाओं का, व्यक्तियों का, तथ्यों का संकलन मानना असंगत है। साहित्येतिहास के वर्तमान और विगत को जोड़ने वाली, युग चेतना की व्याख्या करने वाली, जनता की संचित मनोवत्तियों का प्रतिबिम्बन करने वाली, मानव संस्कृति का उद्घाटन करने वाली या मानव–प्रगति की निरन्तर विकसित चेतना का अंकन करने वाली ज्ञानात्मक शाखा है।

साहित्येतिहास को जानने के लिए डा० नगेन्द्र के इस कथन का उल्लेख किया जा सकता है कि "साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रिया–कलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दष्टि से करते हैं। साहित्यिक रचनाएं भी मानवीय क्रिया–कलापों का ही दर्शन करवाती हैं। इतिहास को समझने से पूर्व उनके रचनाकारों से संबंधित स्थितियों, परिस्थितियों एवं परम्पराओं को जानना भी अति आवश्यक होता है। किसी कृतिकार की वास्तविक शक्ति रचनाओं, रचनाकारों और रचना प्रवत्तियों के मूल्यांकन में ही प्रकट होती है। साहित्येतिहास–लेखन में अनेक तत्त्व उसके साधक के रूप में कार्य करते हैं। उन तत्त्वों का उल्लेख यहाँ पर समीचीन जान पड़ता है। साहित्येतिहास लेखन में अनेक साधक तत्त्व हो सकते हैं। राजनीतिक तत्त्व, साहित्यिक तत्त्व, सामाजिक तत्त्व, सांस्कृतिक तत्त्व, दार्शनिक तत्त्व, आलोचनात्मक तत्त्व वस्तुतः साहित्येतिहास लेखन में साहित्यिक तत्त्वों की प्रधानता होती है लेकिन अन्य तत्त्वों की सार्थकता और महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि इन्हीं तत्त्वों से साहित्येतिहास प्रामाणिक एवं पूर्ण बनता है। इस सन्दर्भ में डा० मैनेजर पाण्डेय का विचार इस प्रकार रहा है– "उसका कतिपय नियमों द्वारा सरलीकरण करना गलत है। ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत न करते हुए साहित्य के इतिहास को समझना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। केवल इसी प्रकार हम मानवता की मुक्ति के लिए इस अन्तिम संघर्ष में योग दे सकेंगे। अतीत का अविकृत और सत्यपूर्ण उद्घाटन ही वर्तमान में सक्रिय हो सकता है। साहित्येतिहास–लेखन की सामग्री

को ही साहित्येतिहास का स्रोत कह सकते हैं। लेखक सामग्री का संकलन और सामग्री का निध ार्रण साहित्येतिहास लेखन की अनिवार्यता होती है।" साहित्येतिहास में प्रयुक्त सामग्री को दो वर्गों में रखा जा सकता है। आन्तरिक साक्ष्य से संबंधित सामग्री तथा बाहरी साक्ष्य से संबंधित सामग्री।

आन्तरिक एवं बाह्य परीक्षणों के माध्यम से साहित्येतिहास–लेखक किसी रचना की प्राचीनता और प्रामाणिकता के निर्धारण का प्रयास करता है। उदाहरण के तौर पर चन्दवरदायी कृत 'पथ्वीराज रासो' नामक कृत्ति ले सकते हैं। आन्तरिक एवं बाह्य परीक्षणों के आधार पर ही साहित्येतिहासकार उसकी प्रामाणिकता तथा स्थिति का निर्धारण करते चले आ रहे हैं।

2. हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा, साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएं

हिंदी साहित्य के इतिहास–लेखन की आधार भूमि विभिन्न साहित्यकारों की जीवन वत्ति संबंधित रचनाएं प्रस्तुत करती है। प्रारम्भ में विभिन्न कवियों का व्यक्तित्व और कृतित्व ही प्रस्तुत किया जाता रहा है। ऐसी प्रारम्भिक कृतियों में 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता', 'भक्तमाल' आदि प्रमुख हैं। इन संग्रहों में काल–क्रमिक विवेचन न होने के कारण इनको साहित्य इतिहास वर्ग में स्थान नहीं दिया जा सकता।

हिंदी में इतिहास लेखन की परम्परा के विषय में फ्रेंच विद्वान गार्सा–द–तासी का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। इन्होंने 'हिन्दुषी हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास' लिखा। जिसमें हिन्दी और उर्दू के विभिन्न 738 कवियों को वर्ण क्रमानुसार स्थान मिला। इनमें 72 हिंदी के कवि सम्मिलित किए गये थे। इस ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्त्व है कि यह हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का प्रथम प्रयास है। इस कृति में हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के कवियों को सम्मिलित किया गया है। डा० नगेन्द्र ने इसके विषय में कहा है कि–"कवियों को कालक्रम के स्थान पर अंग्रेजी वर्णक्रम में प्रस्तुत करना, काल विभाजन, युगीन प्रवतियों का अभाव और हिन्दी उर्दू कवियों को घुला मिला देना त्रुटिपूर्ण है। अनेक न्यूनताओं के होते हुए भी इतिहास लेखन की परम्परा के प्रवर्त्तक के रूप में गार्सा–द–तासी को गौरव प्राप्त है।"

हिंदी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में शिवसिंह सेंगर का नाम विशिष्टता के साथ लिया जाता हैं। उनका ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' 1888 ई० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में 998 कवियों का विवरण दिया गया है। शिवसिंह सेंगर ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के लिए हिन्दी और संस्कृति के अनेक ग्रन्थों की सहायता ली थी। 'शिवसिंह सरोज' के विषय में कहा का सकता है कि यह हिन्दी का ऐसा पहला ग्रन्थ है जो परवर्ती साहित्येतिहास लेखन का आधार ग्रन्थ बना।

जार्ज इब्राहिम ग्रियर्सन ने सन् 1888 में 'दा मार्डन वर्नाकुलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तानी' नामक कृति की रचना की, जिसका हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' डा० किशोरी लाल गुप्त ने किया। इसमें विभिन्न साहित्यकारों की विभिन्न प्रवतियों को दर्शाते हुए उनका काल क्रमानुसार वर्गीकरण किया गया है। हिन्दी के विकासात्मक स्वरूप का निर्धारण यहीं से शुरू हुआ है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक खण्ड काल विशेष के सूचक हैं जिनमें चारण काव्य, धार्मिक, काव्य, प्रेम काव्य आदि का आभास होता है। इस कृति में भक्तिकाल को स्वर्ण युग कहने की सुन्दर उक्ति मिली है। अंग्रेजी विषय में संकलित होने के कारण यह ग्रन्थ हिंदी इतिहास लेखकों के लिए विशेष प्रेरक नहीं बन सका।

मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्र बन्धु विनोद' नामक पुस्तक में हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। इस ग्रन्थ के चार भाग दिखाये गये है। तीन भागों का प्रकाशन सन् 1913 ई० तथा चौथे भाग का प्रकाशन 1934 ई० में सामने आया। इस ग्रन्थ की रचना का आधार काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट थी। इस साहित्येतिहास–ग्रन्थ में सम्मिलित कवियों की संख्या पाँच हजार रही हैं मिश्र बन्धुओं ने अपने साहित्येतिहास को आठ कालखण्डों में विभाजित किया है और प्रत्येक युग के रचनाकारों के रचनात्मक योगदान का अनुशीलन किया है। यद्यपि वे हिंदी साहित्य का विधिवत् इतिहास लिखना चाहते थे, किन्तु अपनी चाहत में वे सफल नहीं हो सके। फिर भी ऐतिहासिक महत्त्व की दष्टि से 'मिश्रबन्धु विनोद'

के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। साहित्येतिहास की परम्परा में इसे एक सार्थक कदम कहा जा सकता है।

साहित्येतिहास–लेखन की परम्परा में सर्वाधिक उल्लेखनीय नाम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का रहा है। उन्होंने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाते हुए सुव्यवस्थित इतिहास लिखकर इतिहास–लेखन की परम्परा में एक नये युग और नयी चेतना की शुरूआत की। आचार्य शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ पहले 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था, और फिर 1929 ई० में परिमार्जन के साथ अलग पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में रचनाकार–चयन की गहरी दष्टि थी। चयन–प्रक्रिया का परिचय देते हुए उन्होंने 'मिश्रबन्धु विनोद' के पाँच हजार कवियों मे ंसे लगभग एक हजार प्रतिनिधि कवियों को ही अपने इतिहास में स्थान दिया है। वास्तव में, आचार्य शुक्ल ने इतिहासकार की तथ्यपरक दष्टि की अपेक्षा साहित्यलोचन की गहरी और पारदर्शी दष्टि को प्रमुखता दी। यही अद्भुत मूल्यांकन की क्षमता ही उनके इतिहास की प्राण शक्ति का पुंज है।

अनेक विशेषताओं के बाद भी शुक्ल के इतिहास में भी कतिपय भ्रान्तियाँ और कमियाँ दिखायी पड़ती हैं। अधुनातन शोधों से वीरगाथा काल के नामकरण सामग्री और प्रवत्तियों के विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यताएँ और धारणाएँ आधारहीन सिद्ध हो चुकी हैं, ऐसे ही और भी स्थलों पर कुछ कमियाँ देखी जा सकती हैं। फिर भी शुक्ल का साहित्येतिहास साहित्येतिहास–लेखन की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का काम करता रहा है। साहित्येतिहास–लेखन की कड़ी में अगला नाम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का आता है। आचार्य द्विवेदी की कृति 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' एक श्रेष्ठ कृति है। इस ऐतिहासिक कृति से साहित्य इतिहास लेखन के लिए नई दष्टि, नई सामग्री और नई व्याख्या मिलती है। आचार्य द्विवेदी ने साहित्य की विभिन्न रचना परम्पराओं उनकी शैलियों का विवरणात्मक और तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। संत काव्य की सुंदर पष्ठभूमि के साथ प्रेमाख्यान काव्य पर अनुसंधानात्मक कार्य करके तथ्य प्रतिपादन किया है। इनकी लेखनी से हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' जैसी श्रेष्ठ रचनाएँ सामने आई है। निश्चित रूप से इनकी इतिहास दष्टि हिन्दी साहित्य इतिहास अध्ययनकर्त्ताओं और परवर्ती लेखकों के लिए अपूर्व प्रेरणा स्वरूप है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्येतिहास के तीन ग्रन्थों की रचना की है। (i) 'हिंदी साहित्य की भूमिका' संस्करण 1940 ई० (ii) 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' 1952 ई० (iii) 'हिंदी साहित्य–उद्भव और विकास 1955 ई०। डा० रामकुमार वर्मा ने 1938 ई० में 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक साहित्य' लिखा। यह ग्रन्थ सात प्रकरणों में विभक्त है। यह वर्गीकरण मूलतः आचार्य शुक्ल के वर्गीकरण पर आधारित है। फिर भी कालों के नये नामोल्लेख के साथ सरल शैली और प्रवाहमय विचारों से ऐतिहासिक तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है। उनका भक्तिकाल संबंधी ऐतिहासिक विवेचन विशेष स्मरणीय है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी के सौजन्य से हिन्दी साहित्य का वहत इतिहास प्रकाशित हुआ। यह विस्तत इतिहास 16 खण्डों में विभक्त किया गया है। इसमें सबसे अधिक लेखकों का योगदान इसकी अपूर्व सफलता ने 100 से अधिक लेखकों और सम्पादकों की भूमिका में हिंदी साहित्य की विविध धाराओं परम्पराओं के विभिन्न सूत्रों का पूर्ण आकर्षण रूप से समायोजन किया गया है। डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' सन् 1965 ई० में लिखा। उनके साहित्येतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अनेक पाश्चात्य विचारकों और इतिहासकारों के विचारो का मंथन करके इतिहास–प्रक्रिया का वैधानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। डा० गुप्त ने आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत काल–विभाजन में संरचनात्मक परिवर्तन भी किया है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अनेक विद्वानों के संयोग से इस परम्परा में 'हिंदी साहित्य ग्रन्थ' प्रस्तुत किया। इसमें मुख्यतः आदि, मध्य और आधुनिक तीन कालों की साहित्य–सामग्री का क्रमबद्ध प्रस्तुतीकरण है। अत्याधिक कमियों के होते हुए भी इतिहास लेखन परम्परा में इसका विशेष महत्त्व है। इसमें लेखन की एकरूपता और विषय की अन्विति और संश्लेषण का अभाव अवश्य है। इसमें काव्य परम्पराओं का विवेचन विशेष उल्लेखनीय है।

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा सतत चलती रही है। पूर्वकालीन इतिहास ग्रन्थों से प्रेरणा लेते हुए नई मान्यताओं और मौलिकताओं के साथ नए इतिहास ग्रन्थ सामने आते रहे हैं। हिंदी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास लेखक गार्सा–द– तासी से लेकर आज तक इस दिशा में क्रमिक विकास चलता रहा है। समय–समय पर नई दष्टि, नई पद्धति और नए चिन्तन के आधार पर अनुकूल और सन्तोषजनक साहित्य इतिहास के तथ्यों का उद्घाटन होता रहा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य के इतिहास की सुदढ़ परम्परा सतत् प्रवाहित होती रही है।

साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ

साहित्येतिहास के स्वरूप का उल्लेख करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवत्ति का स्थायी प्रतिबिम्ब होता है। तब यह निशचित है कि जनता की चित्तवत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवतियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता हैं। जनता की चित्तवत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक, तथा धार्मिक परिरिथति के अनुसार होती है।"

हिंदी साहित्य के प्रारम्भ का प्रश्न–हिंदी साहित्य के लेखन की पहली समस्या यह है कि इसका प्रारम्भ कब से माना जाए। शिवसिंह सेंगर, जार्ज ग्रियर्सन और मिश्र बंधुओं ने हिंदी साहित्य का प्रारम्भ सातवीं शती से स्वीकार किया है। राहुल सांस्कृत्यान ने सातवी शती के सरहपाद को हिंदी का प्रथम कवि माना है, जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसका आरम्भ दसवीं शताब्दी माना है। लेकिन शुक्ल ने जिन कृतियों के आधार पर अपने मत का निर्धारण किया था उनका अस्तित्व भी संदेह की नजर में आ गया है। कुछ विद्वानों ने बारहवीं शती से हिंदी का आरम्भ माना है। इसमें डा० गणपति चन्द्र का उल्लेख किया जा सकता है। डा० उदयनारायण तिवारी, डा० नामवरसिंह आदि विद्वानों ने हिन्दी साहित्य एवं भाषा का आरंभ चौदहवीं शती से माना है। इससे स्पष्ट होता है कि हिंदी साहित्य के प्रारम्भ के संबंधों में कई मत प्रचलित हैं। लेकिन 12 वीं शती को विद्वानों ने तर्कसंगत एवं प्रामाणिक माना है।

1 **काल विभाजन की समस्याः** हिंदी साहित्य को आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल में विभाजित किया गया है। आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य का इतिहास में इसी विभाजन को अपनाया है। लेकिन बाद में यह काल विभाजन भी विद्वानों के संदेहों के घेरे में आ गया। साहित्य की लगातार विकासशील प्रकृति के कारण कोई भी काल अन्तिम सत्य के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। इतिहास लेखन के लिए काल–विभाजन जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही समस्यापूर्ण भी है।

2. **नामकरण की समस्याः** हिन्दी साहित्येतिहास के लेखन में काल–विभाजन के साथ ही नामकरण की समस्या भी जुड़ी हुई है। इसके लिए कभी प्रमुख साहित्यिक प्रवत्ति को आधार बनाया जाता है और कभी साहित्यकार को, कभी पद्धति का आश्रय लिया जाता है और कभी विषय का। आचार्य शुक्ल ने जिन ग्रन्थों के आधार पर आदिकाल को वीरगाथाकाल कहना उपयुक्त समझा था उसके बाद के विचारकों ने उस पर एकदम असहमति व्यक्त की और अपने–अपने मत के समर्थन में विभिन्न प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये। उनके अनुसार इन ग्रन्थों में से कुछ तो अप्राप्त हैं और कुछ की प्रामाणिकता संदिग्ध है और कुछ का वीरगाथा–वर्णन से किसी प्रकार का संबंध ही नहीं है।

3. **साहित्यकारों के चयन और निर्धारण की समस्याः** हिंदी साहित्येतिहास लेखन में साहित्यकारों के चयन और उनके निर्धारण की भी गंभीर समस्या रहती है। इतिहास–लेखक के सामने यह संकट बना रहता है कि किस रचनाकार की रचना को वह अपनी कृति

में स्थान दे और किस को न दे। इस कार्य–कारण संबंध के बिना इतिहास मे काफी त्रुटियाँ होने की संभावना बनी रहती हैं।

4. **मूल्यांकन की समस्याः** हिंदी साहित्येतिहास लेखन में मूल्यांकन की समस्या भी एक गंभीर समस्या बनी रहती है। इस विषय में डा० नामवर सिंह का मत इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है कि साहित्य के इतिहास में काल–विभाजन और नामकरण से अधिक महत्त्वपूर्ण मूल्यांकन की समस्या होती है। किसी इतिहासकार की वास्तविक शक्ति रचनाओं, रचनाकारों और रचना प्रवत्तियों के मूल्यांकन से ही प्रकाश में आ पाती है। इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साहित्यलेखक तटस्थ एवं निष्पक्षतापूर्ण कार्य को सम्पन्न करें।

5. **इतिहास-लेखन की पद्धति संबंधी समस्याः** साहित्येतिहास–लेखन की पद्धति भी साहित्य–इतिहास–लेखन की एक समस्या है। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास ग्रन्थों में इस प्रकार की समस्या संबंधी परिचय प्राप्त होता हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पहली बार हिंदी साहित्य लेखन को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने का सफल प्रयास किया। उनके बाद इतिहासकारों ने इतिहास–लेखन का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन किया। आज तक हिंदी साहित्य में युगपरक विभाजन के आधार पर ही अध्ययन की प्रवत्तियों की पद्धति प्रचलित रही है। इस पद्धति का प्रमुख दोष यह है कि प्रत्येक युग की साहित्यिक प्रवत्तियों को उस युग की काल सीमाओं तक ही सीमित मान लिया जाता है।

6. **हिंदी साहित्य के वैचारिक स्रोतों की समस्याः** हिंदी साहित्य के इतिहास–लेखन में साहित्य के वैचारिक स्रोतों की भी एक समस्या आड़े आती है। हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य का विकास बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से माना जाये, किन्तु हिंदी साहित्य में पायी जाने वाली अनेक विचारधाराओं और विशेषताओं के स्रोत पौराणिक भारतीय साहित्य में, संस्कृति में निकाले जा सकते हैं। उदाहरण के तौर पर आदिकालीन जैन धर्म से संबंधित रास काव्य परम्परा के स्रोत महावीर, नेमिनाथ आदि जैन तीर्थकारों के उपदेशों में समाहित हैं। इसी प्रकार भक्तिकालीन साहित्य में विद्यमान दार्शनिक विचारधारा और रहस्यानुभूति का मूल उद्‌गम स्रोत उपनिषदों में देखा जा सकता है।

7. **हिंदी साहित्येतिहास में अन्य भाषाओं का साहित्यः** हिंदी साहित्येतिहास में अन्य भाषाओं के साहित्य का सन्निवेश होना चाहिए या फिर नहीं। यह भी एक गम्भीर समस्या बनी रहती है। हिंदी साहित्य के कतिपय विद्वानों का मानना रहा है कि उर्दू को भी हिंदी साहित्य में समाहित किया जा सकता है। इस विषय में डा० नगेन्द्र का मत रहा है कि हिंदी साहित्य के इतिहास में उर्दू का समावेश एक बरबस प्रयास होगा। मैथिली और राजस्थानी साहित्य का इतिहास आदिकाल से ही हिन्दी साहित्य के साथ सम्बद्ध रहा है और विद्यापति, चन्दवरदायी , पथ्वीराज आदि कवियों को हिन्दी साहित्य के इतिहास मे निरन्तर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। परन्तु भाषा की कठिनाई के कारण इन भाषाओं के कवि–लेखकों तथा उनकी कृतियों के साथ न्याय नहीं हुआ है। इसी प्रकार गुरूमुखी लिपिबद्ध हिन्दी गद्य–पद्य का प्रचुर साहित्य आज उपलब्ध है जिससे हिन्दी साहित्य का इतिहासकार या तो अनभिज्ञ रहा है या पंजाबी की रचनाएँ समझकर उनकी उपेक्षा करता रहा है। इस सम्पूर्ण वाङ्मय का हिंदी साहित्य के इतिहास में विवेकपूर्वक उपयोग करना चाहिए, क्योंकि हिंदी की परिभाषा हमें बताती है कि यह सब हिन्दी साहित्य के ही अभिन्न अंग है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास–लेखन का कार्य अति जटिल एवं दुष्कर कार्य है। लेखन में अनेक समस्याओं के बाद यदि साहित्येतिहासकार व्यापक दष्टि, विवेकपूर्वक सोच, निष्पक्ष एवं तटस्थ रूख अपनाये तो साहित्येतिहास की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है। और साथ ही साथ वह समस्याओं से मुक्ति भी पा सकता है।

3. हिंदी साहित्य का इतिहास : काल-विभाजन, सीमा-निर्धारण और नामकरण

हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों की परम्परा की सुनिश्चित पष्ठभूमि नहीं है। इसका अधिकांश भाग अब तक भी अप्राप्य ही है। अन्य तथ्य खोज के अभाव में अज्ञात ही रह गए हैं। भारतवर्ष पर अनेक आक्रमणों और देवी प्रकोपों से हिन्दी साहित्य का बहुत बड़ा अंश काल कवलित होकर रह गया है। जो तथ्य हमारे सामने हैं उन्हीं के आधार पर हम काल विभाजन की कोशिश करते हैं।

.(क,) काल विभाजन

प्रारम्भ की पुस्तकों में काल विभाजन संबंधी तथ्यों का अभाव रहा है। इनमें उपलब्ध कवियों और उनकी रचनाओं का विवरण ही मिलता है। ऐसे ग्रन्थों में नाभादास के 'भक्तमाल' में 200 भक्तों का चरित्रांकन किया गया है। ब्रज के वार्ता साहित्य में 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' और 'दो सौ बावन' वैष्णवों की वार्ता' प्रमुख हैं। यह क्रम काफी लम्बे समय तक चलता रहा है। शिवसिंह सेंगर ने 'शिव सिंह सरोज' में 829 कवियों की कविताओं का संकलन किया है और अन्त में 1003 कवियों के विवरण भी प्रस्तुत किए है। सेंगर ने हिंदी साहित्य के इतिहास को शताब्दियों के आधार पर विभाजित करने का प्रारम्भिक प्रयास किया है। इस विभाजन का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा। डा० ग्रियर्सन ने अपनी रचना 'दी माडर्न वर्नाकुल लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' में काल विभाजन करते हुए विभिन्न साहित्यकारों पर विशद् चर्चा की भी की है। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास को 12 भागों में विभक्त किया है। यह विभाजन किसी एक आधार से न जुड़कर साहित्यिकता, राजनीतिक, रचना–प्रकृति आदि की विविधता से जुड़ा हैं। इसमें साहित्य इतिहास के विभाजन का प्रयास अवश्य दिखाई देता है किन्तु विभाजन तर्क संगत नहीं है। मिश्र बन्धुओं ने अपने साहित्येतिहास ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' में काल–विभाजन में नयी दष्टि और नये विवेक का परिचय दिया है। मिश्र बन्धुओं का प्रयास निश्चित ही सभी दष्टियों से ग्रियर्सन के काल–विभाजन से बहुत विकसित और वैज्ञानिक है। विभाजन इस प्रकार किया गया है–

1. **आरम्भिक काल**
    - (i) पूर्वारम्भिक काल : संवत् 700 से लेकर 1343 तक
    - (ii) उत्तरारम्भिक काल : संवत् 1343 से 1444 तक
2. **माध्यमिक काल**
    - (i) पूर्वमाध्यमिक काल : संवत् 1445 से 1560 तक
    - (ii) प्रौढ़ माध्यमिक काल : संवत् 1561 से 1580 तक
3. **अलंकृत काल**
    - (i) पूर्वालंकृत काल : संवत् 1681 से 1790 तक
    - (ii) उत्तरालंकृत काल : संवत् 1791 से 1889 तक
4. **परिवर्तन काल** : संवत् 1890 से 1925 तक
5. **वर्तमान काल** : संवत् 1926 से आगे

मिश्र बन्धुओं का काल–विभाजन व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक है, परन्तु इस वर्गीकरण में अनेक विसंगतियाँ देखी गई है। पूरे वर्गीकरण में कोई निश्चित आधार नहीं अपनाया गया है। आरम्भिक काल, माध्यमिक काल, वर्तमान काल आदि विभाजन के साथ अलंकृत काल नाम युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि यह काल क्रम के आधार से अलग प्रकृतिगत आधार को प्रकट करता है। इसमे पद्धति की दष्टि से भी एकरूपता का निर्वाह नहीं किया गया है। प्रथम तीन कालों को दो–दो खण्डों में वर्गीकृत किया गया है, किन्तु बाद के दो कालों में यह पद्धति नहीं अपनायी गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल–विभाजन चार भागों में किया है।

1. आदिकाल – वीरगाथाकाल : संवत् 1050-1375
2. पूर्व मध्यकाल–भक्तिकालः संवत् 1375-1700
3. उत्तर मध्यकाल – रीतिकाल : संवत् 1700- 1900
4. आधुनिक काल – गद्यकाल, संवत् 1900 से अद्यावधि

आचार्य शुक्ल ने आदिकाल में वीरगाथाओं की प्रमुखता को ध्यान में रखकर इसे 'वीरगाथाकाल' के नाम से अभिहित किया। शुक्ल ने इसमें तीन प्रमुख बातों पर ध्यान दिया है– (i) वीरगाथात्मक ग्रंथों की प्रचुरता (ii) जैनों द्वारा प्राचीन ग्रंथों को धार्मिक साहित्य घोषित करके उसे रचनात्मक साहित्य की परिधि से निकाल देना और इसी प्रकार नाथों और सिद्धों की रचनाओं को शुद्ध साहित्य में स्थान न देना (iii) मुख्य बात उन रचनाओं की है, जिनमें भिन्न–भिन्न विषयों पर फुटकर दोहे मिलते हैं। आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाकाल का नामकरण करते समय निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख किया है–

1. विजयपाल रासो–नल्लसिंहः संवत् 1355
2. हम्मीर रासो–शार्ङ्गधरः संवत् 1357
3. कीर्तिलता–विद्यापतिः संवत् 1460
4. कीर्तिपताका–विद्यापतिः संवत् 1460

उपर्युक्त रचनाएं अपभ्रश भाषा में लिखी गई हैं। देशी भाषा में रचित पुस्तकों का ब्यौरा इस प्रकार है।

1. खुमान रासो–दलपति विजयः संवत् 1180-1205
2. बीसलदेव रासो–नरपति नाल्हः संवत् 1292
3. पथ्वीराज रासो–चन्दवरदाईः संवत् 1225-1249
4. जयचन्द प्रकाश–भट्ट केदारः संवत् 1225
5. जय मयंकजस चन्द्रिका– मधुकरः संवत् 1240
6. परमाल रासो–आल्हा का मूल जगनिकः संवत् 1230
7. खुसरो की पहेलियाँ–अमीर खुसरोझः संवत् 1230
8. विद्यापति पदावली–विद्यापति, संवत् 1460

एक बात यह है कि शुक्ल जी ने जिन ग्रन्थों को धार्मिक कहकर छोड़ दिया था, उन्हें तथा कुछ नव्य प्राप्त ग्रंथों को भी अब साहित्य–परिधि में समाविष्ट कर लिया गया है। डा० श्याम सुंदर दास ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'हिदी भाषा और साहित्य' के 'साहित्य' भाग में काल–विभाजन का अद्भुत मार्ग अपनाया

है। इन्होंने काल–विभाजन तो शुक्ल के अनुसार ही किया है, परन्तु विवेचन करते समय यह मौलिकता दिखायी है कि हिंदी साहित्य की प्रत्येक प्रधान प्रवति का विकास एवं इतिहास–आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक था एक साथ प्रस्तुत कर दिया है। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सम्पूर्ण हिंदी साहित्य के इतिहास को बीज–वपन, अंकुरोद्‌भव तथा पत्रोद्‌गम काल के नाम से तीन भागों में विभक्त किया है। परन्तु यह नाम समीचीन मालूम नहीं पड़ता है। साहित्यिक प्रवत्तियों की दष्टि से इसे उक्त नाम से पुकारना असंगत है, क्योंकि इस काल में अपने पूर्ववर्ती साहित्य की सभी काव्य रूढ़ियों और परम्पराओं का भी उद्‌भव हुआ, जो अपने समुचित विकसित रूप में है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत काल के साहित्य को अन्तर्विरोधों का साहित्य कहा है, किन्तु घूम फिर कर उन्होंने इस काल को आदिकाल के नाम से पुकारा है। परन्तु आचार्य द्विवेदी ने यह भी स्वीकार किया है कि 'आदिकाल' से आने वाला आदि शब्द सबसे अधिक खतरनाक है। उन्होंने लिखा है, "वस्तुतः हिन्दी का आदिकाल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभापन्न, परंपराविनिर्मुक्त, काव्य–रूढियों से अछूते साहित्य का काल है।" यह ठीक बात नहीं है क्योंकि यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग और सचेत कवियों का काल है।

(ख) आदिकाल अथवा वीरगाथाकाल के नामकरण

हिंदी साहित्य में वीरगाथा काल अथवा आदिकाल के नामकरण तथा काल–विभाजन को लेकर विद्वानों में काफी मत–भेद पाया जाता है। शुक्ल जी ने पहले मिश्र बन्धुओं के आदिकाल को आरम्भिक काल के दो उपखण्डों पूर्व तथा उत्तर में, विभाजित करते हुए इसकी समय–सीमा संवत् 700 से 1343 तथा सवत् 1344 से 1444 निर्धारित की थी। इसमें संशोधन करके आचार्य शुक्ल ने इस काल को समयावधि के आधार पर आदिकाल तथा प्रवतियों की अधिकता के आधार पर 'वीरगाथाकाल' कहा था तथा इस काल की सीमा रेखा संवत् 1050 वि० से 1375 वि० तक मानी है। शुक्ल ने जिस उपलब्ध ा साहित्यिक सामग्री के आधार पर प्रवत्तिमूलक नामकरण तथा काल–विभाजन किया, उसमें अधिकांश कृतियाँ दो प्रकार की भाषाओं में लिखी मिलती है। एक तो अपभ्रंश भाषा की तथा दूसरी देशी भाषा की है।

हिंदी साहित्य काल–विभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण को लेकर विद्वानों में काफी खिंचा–तानी रही है। हिंदी साहित्य के काल–विभाजन तथा नामकरण में किसी ने केवल 'काव्य–प्रवत्तियों' को देखा है, तो किसी ने उसके निरन्तर होते रहने वाले 'प्रवाह' को। किसी की दष्टि 'प्रधान रस' और 'युग–ध ार्म' पर टिकी है, किसी ने भाषा को अपनाया तो किसी ने युग–प्रभाव को। हिंदी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत मानी जाने वाली वार्ता–रचनाओं और प्रथम इतिहास गार्सा–द–तासी के इतिहास में इस बात का उल्लेख ही नहीं किया। जार्ज ग्रियर्सन जिन्होंने अपने समय के हिंदी साहित्य के इतिहास को 12 अध्यायों में बाँटा है और कुछ की कालावधि भी दी है चारणकाल 700-1400 ई०, ब्रज का कृष्णकाव्य 1500-1600 ई०, रीतिकाल 1580-1692 ई०, तुलसीदास के अन्य परवर्ती काव्य 1600-1700 ई० आदि। निःसन्देह ये सभी शीर्षक निबंधात्मक हैं। दूसरे इनका कोई सुनिश्चित आकार भी नहीं है। ये किसी भी काल–विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करते। कुछ शीर्षक एकदम कालावधि शून्य हैं, काल विशेष का सम्यक् प्रतिनिधित्व नहीं करते। जैसे–मलिक मुहम्मद जायसी का प्रेम काव्य, तुलसीदास तथा विविध अज्ञात कवि, तो कुछ एकदम काल–नाम पर ही हैं। हिन्दी साहित्य का सम्भवतः सर्वाध िक बड़ा विभाजन और नामकरण करने वाले हैं– मिश्र बंधु। उन्होंने अपने ग्रंथ 'मिश्र बंधु विनोद' में समस्त हिंदी साहित्य के 6 काल बताएं हैं–

1. प्रारम्भिक काल संवत् 700-1444 ई०
2. माध्यमिक काल संवत् 1445-1680 ई०

3. अलंकृत काल संवत् 1681-1889 ई०
4. अज्ञातकाल
5. परिवर्तनकाल संवत् 1890-1925 ई०
6. वर्तमान काल संवत् 1926 ई० से–

उपर्युक्त भेदों में से भी उन्होंने प्रत्येक काल के कई उपभेद किए है, वह भी विविध आधारों पर। निःसन्देह निश्चित आधारों का अभाव, असंगत मानदण्डों का असंगत प्रयोग, पुनरावर्ति आदि दोषों से भरपूर उपर्युक्त विभाजन एकदम अधकचरा और अधूरा बनकर रहा गया है। इसी प्रकार के असफल विभाजन और नामकरण 'श्री रामनेरश त्रिपाठी, वियोगीहरि' आदि ने किए है।

डा० गणपति चन्द्र गुप्त ने हिन्दी साहित्य का सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन कर नवीन तथा वैज्ञानिक ढंग से हिन्दी साहित्य का काल–विभाजन किया है

1. प्रारम्भिक काल–सन् 1184-1350 ई०
2. पूर्व–मध्यकाल– सन् 1350-1600 ई०
3. उत्तर मध्यकाल–सन् 1600-1857 ई०
4. आधुनिक काल–सन् 1857- से अब तक

डा० गणपति चन्द्र गुप्त का काल–विभाजन यद्यपि स्पष्ट और व्यापक है, परन्तु यह भ्रमित करने वाला प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होने आदिकाल में दो परंपराएँ ञप्रतिपादित की हैं– (1)धार्मिक रास–काव्य परंपरा तथा (2) संत काव्य परंपरा और मध्यकाल में ११ परंपराएँ–

1. धर्माश्रय में
   - (i) संत–काव्य परम्परा
   - (ii) पौराणिक रीति–परम्परा
   - (iii) पौराणिक प्रबंध–काव्य परम्परा
   - (iv) रसिक भक्ति–काव्य परम्परा
2. राज्याश्रय में
   - (v) मैथिली गीति परम्परा
   - (vi) ऐतिहासिक रास–काव्य परम्परा
   - (vii) ऐतिहासिक मुक्तक परम्परा
   - (viii) ऐतिहासिक–चरित्र काव्य परम्परा
   - (ix) शास्त्रीय मुक्तक परम्परा
3. लोकाश्रय में
   - (x) रोमांटिक कथा–काव्य परम्परा
   - (xi) स्वच्छंद प्रेम–काव्य परम्परा

आधुनिक काल को उन्होंने पाँच भागों में विभक्त किया है–

1. भारतेन्दु युग–सन् 1857-1900 ई०
2. द्विवेदी युग–सन् 1900-1920 ई०

3. छायावादी युग–सन् 1920-1937 ई०

4. प्रगतिवाद युग–सन् 1937-1945 ई०

5. प्रयोग युग–सन् 1945-1965 ई०

डा० नगेन्द्र ने समन्वयात्मक दष्टिकोण अपनाते हुए तथा ऐतिहासिक कालक्रम व साहित्यिक विद्या दोनों का आधार ग्रहण करते हुए हिंदी साहित्य का काल–विभाजन एवं नामकरण इस प्रकार किया है–

1. आदिकाल–सन् 650 से 1350 ई०

2. भक्तिकाल–सन् 1350 से 1650 ई०

3. रीतिकाल–सन् 1650 से 1850 ई०

4. आधुनिक काल–सन् 1850 ई० से अब तक

1. पुनर्जागरण काल (भारतेन्दु काल)–सन् 1857-1900 ई०

2. जागरण सुधारकाल (द्विवेदी काल)–सन् 1900-1918 ई०

3. छायावाद काल–सन् 1918-1938 ई०

4. छायावादोत्तर कालः

   (i) प्रगति–प्रयोगकाल (सन् 1938-1953)

   (ii) नवलेखन–काल (सन् 1953 अब तक)

डा० नगेन्द्र का काल–विभाजन आचार्य शुक्ल और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार ही रहा है। अन्तर केवल इतना है कि डा० नगेन्द्र ने आदिकाल का प्रारम्भ सातवीं शती के मध्य से माना है। जबकि शुक्ल ने 1050 ई० से तथा आचार्य द्विवेदी ने 10 वीं शती से विभिन्न विद्वानों के विचारों का मंथन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिंदी साहित्य के काल विभाजन के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। अब तक की प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डा० नगेन्द्र का काल–विभाजन अधिक स्पष्ट, वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित रहा है। इन तीनों के समन्वयात्मक रूप को ही हमें स्वीकार करना चाहिए। अतः हिंदी साहित्य के इतिहास को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। विद्वानों ने भी इस काल विभाजन को उपयुक्त माना है।

1. आदिकाल–सवंत् 1050 से 1375 वि०

2. भक्तिकाल–सवंत् 1375 से 1700 वि०

3. रीतिकाल–सवंत् 1700 से 1900 वि०

4. आधुनिककाल–सवंत् 1900 से अब तक

अनेक विद्वानों ने हिंदी साहित्येतिहास के अन्तर्गत हिंदी साहित्य का काल–विभाजन एवं नामकरण किया है, लेकिन हिंदी साहित्य का वास्तविक काल–विभाजन एवं नामकरण करने वालों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम ही प्रमुख रहा है। आधुनिक काल में साहित्य की नई–नई प्रवत्तियाँ विकसित–वर्धित हो रही है; साथ ही अनेकानेक प्राचीन ग्रन्थ भी खोजे जा रहे है। इस प्रकार आज भी विद्वानों के बीच इस नामकरण की आवश्यकता बनी हुई है।

ekMîy& 2

हिंदी साहित्य का आदिकाल

4. नामकरण और सीमा

नामकरण

हिंदी साहित्य के इतिहास के विवादास्पद प्रसंगों में एक हिंदी साहित्य के आदिकाल का भी प्रसंग रहा है। हिंदी साहित्य के इतिहास के अनेक विद्वान लेखकों ने इस संबंध में अपने–अपने मत प्रस्तुत किए हैं।

हिंदी साहित्य के विधिवत् इतिहास लेखन से पूर्व 'भक्तमाल' 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' 'दो सौ वैष्णव' की वार्ता' आदि कतिपय कविवत संग्रह दो लिखे गए जिनमें काल–विभाजन और नामकरण की खोज की ओर कोई दष्टि नहीं गई। कुछ विद्वान इसे वीरगाथात्मक रचनाओं की प्रधानता के कारण इसे वीरगाथाकाल कहने के पक्ष में है, लेकिन सिद्धों और नाथों की रचनाएँ इस परिधि में नहीं आ सकती। अतः 'वीरगाथाकाल' न कहकर कुछ ने इसे आदिकाल कहा है, तो किसी ने बीजवपन काल। श्रंगार

1. **वीरगाथाकाल**: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रारम्भिक युग के साहित्य को दो कोटियों–अपभ्रंश और देशभाषा में बाँटा है। उनके मत में सिद्धों और योगियों की रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं, वे साम्प्रदायिक शिक्षामात्र हैं। अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आती और जो साहित्य की कोटि में गिनी जा सकी हैं वे कुछ फुटकर रचनाएँ हैं, जिनसे कोई विशेष प्रवत्ति स्पष्ट नहीं होती है। उनके मत में तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं में से केवल 'खुसरो की पहेलियाँ', 'विद्यापति पदावली' तथा 'बीसलदेवरासो' को छोड़कर सभी रचनाएँ वीरगाथात्मक हैं। इस युग में राज्याश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजा की वीरता का यशोगान तथा उन्हें युद्धों के लिए उकसाने का काम करते थे। इसलिए उन रचनाओं को राजकीय पुस्तकालयों में रखा जाता था। लेकिन बाद में साहित्य संबंधी जो खोज की गई उसके अनुसार शुक्ल ने जिन रचनाओं के आधार पर इस काल का नाम 'वीरगाथाकाल' रखा है, उनमें से अधिकतर बाद की रचनाएँ हैं और कुछ सूचनामात्र हैं। शुक्ल ने जिन बारह रचनाओं के आधार पर विवेच्य काल का नामकरण वीरगाथाकाल किया है, वे हैं–(i) विजयपाल रासो–नल्हसिंह, (ii) हम्मीर रासो–शार्ङ्गधर, (iii) कीर्तिलता–विद्यापति, (iv) कीर्तिपताका–विद्यापति, (v) खुमानरासो–दलपति विजय, (vi) बीसलदेवरासो–नरपति नाल्ह, (vii) पथ्वीराज रासो–चन्दवरदाई, (viii) जयचन्द्र प्रकाश–भट्ट केदार, (ix) जयमंथक–जस–चन्द्रिका–मधुकर, (x) परमाल रासो–जगनिक, (xi) खुसरो की पहेलियाँ और (xii) विद्यापति की पदावली।

इन रचनाओं में से अधिकतर रचनाएँ अप्रामाणिक एवं सूचना मात्र हैं। खुमानरासो को शुक्ल ने पुराना माना था जबकि मोतीलाल में नारिमा ने इसका रचना काल स० 1730 और 1760 के बीच का माना है। इसी प्रकार से 'बीसलदेव रासो' भी सन्देहास्पद है। शुक्ल ने भी इस ग्रंथ को कोई महत्त्व नहीं दिया।

'पथ्वीराज रासो' भी अप्रामाणिक रचना है। जगनिक काव्य प्रचलित गीतों के रूप में है, अतः इसे भी सूचना मात्र ही समझना चाहिए। 'हम्मीररासो' तथा भट्ट के द्वारा कृत 'जयचन्द्र प्रकाश' आदि रचनाएँ भी सूचना मात्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इनका नाम 'वीरगाथाकाल' रखा गया, वे या तो सूचना मात्र हैं या बाद में लिखे हुए हैं। दूसरे, शुक्ल ने धार्मिक–साहित्य को उपदेशप्रधान मानकर साहित्य की कोटि में नहीं रखा, किन्तु जिस धार्मिक साहित्य में प्रेरक शक्ति हो और जो रचनाएँ मानव–मन को आन्दोलित करने में समर्थ हो उनका साहित्यिक महत्त्व नकारा नहीं जा सकता। इस दष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ, जो धर्म–भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्सन्देह उत्तमकाव्य हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत में धार्मिक प्रेरणा या अध्यात्मिक उपदेश को काव्यत्व के लिए बाधक नहीं समझना चाहिए। धार्मिक होने से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा मानकर चला जाये तो तुलसी का 'मानस' और जायसी का 'पदमावत' भी साहित्य की सीमा में प्रविष्ट नहीं हो सकेंगे। 'भविष्यत कहा' धार्मिक कथा है, लेकिन इस जैसा सुन्दर काव्य उस युग में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। संक्षेप में कहा जायेगा कि सभी धार्मिक पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में से नहीं हटाया जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तत्कालीन उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही नामकरण किया था। नवीनतम खोजों मे जो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उनकी प्रवत्तियों को भी नामकरण निध ारित करते समय ध्यान में रखना होगा। मोतीलाल मेनारिया का मत रहा है कि जिन रचनाओं के आधार पर 'वीरगाथाकाल' नाम रखा गया है वे किसी विशेष प्रवत्ति को स्पष्ट नहीं करते, बल्कि चारण–भाट आदि वर्ग विशेष की मनोवत्ति को ही स्पष्ट करते हैं। यदि इनकी रचनाओं के आधार पर किसी काल का नाम 'वीरगाथाकाल' रखा जाए तो राजस्थान में आज भी वीरगाथाकाल ही है, क्योंकि ये लोग आज भी उत्साह से काम कर रहे हैं।

2. **अपभ्रंश कालः** चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल को 'अपभ्रंश काल' की संज्ञा दी है। आदिकाल के साहित्य में अपभ्रंश भाषा की प्रधानता स्वीकारते हुए उन्होंने इस काल को 'अपभ्रंश काल' कहना अधिक समीचीन समझा है। भाषा के आधार पर साहित्य के इतिहास में काल–विभाजन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। साहित्य के किसी भी काल का नामकरण उस काल की साहित्यिक प्रवत्तियों अथवा प्रतिपाद्य विषय के आधार पर उचित समझा जाता है। 'अपभ्रंश काल' यह नाम भ्रामक भी सिद्ध होता है क्योंकि इसमें श्रोता या पाठक का ध्यान हिंदी साहित्य की ओर न जाकर अपभ्रंश साहित्य की ओर आकृष्ट होता है। भाषा–शास्त्र की दष्टि से भी अपभ्रंश और हिंदी दो अलग–अलग भाषाएं है। इसलिए पुरानी हिंदी को अपभ्रंश कहना भी उचित नहीं है।

3. **संधिकाल और चारण कालः** डा० रामकुमार वर्मा ने हिंदी साहित्य के इस प्रारंभिक काल को 'संधिकाल' और 'चारणकाल' इन दो नामों से अभिहित किया है। उनकी सम्मति में हिंदी भाषा का विकास अपभ्रंश से हुआ है किन्तु अपभ्रंश से एक पथक भाषा के रूप में विकसित होने से पूर्व हिंदी भाषा एक ऐसी स्थिति में भी रही होगी जिसमें वह अपभ्रंश

के प्रभावों से सर्वथा मुक्त न हो सकी होगी। अपभ्रंश भाषा के अंत और हिंदी भाषा के आरम्भ की इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए डा० वर्मा ने 'संधिकाल' की कल्पना की है। हिंदी साहित्य के जिस काल को आचार्य शुक्ल ने 'वीरगाथाकाल' कहा है, वहीं पर डा० वर्मा उसे 'चारण काल' कहना उपयुक्त समझते हैं।

4. **सिद्ध सामन्त कालः** विषय वस्तु की दष्टि से महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने इस युग के लिए 'सिद्ध सामन्त युग' नाम प्रेषित किया है। प्रस्तुत नामकरण बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवत्ति को स्पष्ट करता है। इस काल के साहित्य में सिद्धों द्वारा लिखा गया धार्मिक साहित्य ही प्रधान है। सामन्तकाल में 'सामन्त' शब्द से उस समय की राजनैतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण–जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणा स्रोत का भी पता चलता है। लेकिन इस 'सिद्ध सामन्त युग' में सभी धार्मिक और साम्प्रदायिक तथा लौकिक रचनाएँ नहीं आती। राहुल सांस्कृत्यायन अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी को एक ही मानते हैं, साथ ही इस युग की रचनाओं को मराठी, उड़िया, बंगला आदि भाषाओं की सम्मिलित निधि स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'सिद्ध–सामंत–युग' नाम भी साहित्य के लिए उपयुक्त नाम नहीं है।

5. **बीजवपन कालः** आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसे बीजवपन काल कहा है। तत्कालीन साहित्य को देखकर यह नाम भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसमें पूर्ववर्ती सभी काव्य रूढ़ियों तथा परम्पराओं का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है और उसके साथ कुछ नवीन प्रवत्तियों का जन्म हुआ है।

6. **आदिकालः** आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका नाम 'आदिकाल' सुझाया है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है–'वस्तुतः हिन्दी का 'आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारण की सष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम भावापन्न, परम्परा–विनिर्मुक्त, काव्यरूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है, यह बात ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग–सचेत कवियों का काल है। वस्तुतः हिंदी साहित्य के आदिकाल के नामकरण का विषय अत्यन्त उलझा हुआ है। जब तक हिंदी की पूर्ण–सीमा निर्धारण नहीं की जाती और जब तक उपलब्ध साहित्य की प्रामाणिकता–अप्रामाणिकता के प्रश्न का समाधान नहीं हो पाता; तब तक किसी निश्चय पर पहुँचना सहज नहीं है। अन्त मे कहा जा सकता है कि किसी निश्चित मत के अभाव में प्रस्तुत काल का नामकरण 'आदिकाल' ही अधिक संगत प्रतीत होता है। यह नाम सर्वाधिक प्रचलित हो गया है।

आदिकाल सीमांकनः प्रस्तुत काल के साहित्य की पूर्वापर सीमा को निर्धारित करने का विचार भी कुछ कम विवादास्पद नहीं है। आचार्य शुक्ल ने इस काल का आरम्भ स० 1050 और अन्त संवत् 1375 (993 से 1318 ई०) माना है। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने 8 वीं शती की अपभ्रंशों को पुरानी हिन्दी कह कर अपने सिद्ध सामन्त युग का आरम्भ इसी काल से मान लिया और इस काल की अपर सीमा 13 वीं शती मानी। डा० ग्रियर्सन ने आदिकाल की अन्तिम सीमा 1400 ई० तक मानी है। मिश्रबंधुओं ने एतदर्थ 1389 ई० का वर्ष स्वीकार किया है। डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' इसे 1343 ई० तक ले गये हैं। अधिकांश इतिहासकार शुक्ल जी से सहमत हैं। यह ठीक है कि शुक्ल ने विद्यापति को आदिकाल के अन्तर्गत रखा है, पर विद्यापति का रचना काल 1375 ई० से 1418 ई० के मध्य माना जाता है और इस दष्टि से आदिकाल की अन्तिम सीमा 1418 ई० निर्धारित की जा सकती है, किन्तु इसमें भी नहीं की। भक्तिकाल में जिन प्रवत्तियों का विकास हुआ, उनकी भूमिका विद्यापति के पूर्व ही पूर्ण हो चुकी थी। अतः विद्यापति को भक्तिकाल में रखकर चौदहवीं शताब्दी के मध्य को आदिकाल

की अन्तिम सीमा मानना ही समीचीन होगा। दूसरे शब्दों में, शुक्ल द्वारा निर्धारित 1318 ई० के बाद भी तीन दशाब्द तक आदिकालीन साहित्य सामग्री का प्रसार माना जा सकता है। अतः हिंदी साहित्य के इतिहास के सीमांकन को हम निम्नलिखित रूपों में बांट सकते हैं–

1. आदिकाल सन् 1000-1400 ई०
2. मध्यकाल सन् 1400-1850 ई०
   (i) पूर्व मध्यकाल (भक्ति साहित्य) सन् 1400-1650 ई०
   (ii) उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) सन् 1650-1850 ई०
3. आधुनिक काल सन् 1850 से अब तक।
   (i) हिंदी गद्य (आरम्भ) सन् 1850-1857 ई०
   (ii) भारतेन्दु काल (पुनर्जागरण) सन् 1857-1900 ई०
   (iii) द्विवेदी काल–जागरण–सुधारकाल सन् 1900-1918 ई०
4. छायावाद काल सन् 1918-1936 ई०
5. छायावादोत्तर काल सन् 1936 से अब तक
   (i) प्रगतिवाद सन् 1936 से 1942 ई० तक
   (ii) प्रयोगवाद नयी कविता सन् 1942-1953 ई०
   (iii) नवलेखन काल सन् 1953 से अब तक

5. आदिकालीन परिवेश

प्रत्येक काल के परिवेश की अपनी पहचान होती है। समय परिवर्तन के साथ परिवेश में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। आदिकालीन परिवेश की कुछ प्रमुख विशेषताएँ रेखांकन योग्य हैं–

5.1 ऐतिहासिक परिवेश

भारतीय इतिहास का यह युग राजनीतिक दष्टि से एवं ऐतिहासिक दष्टि से गह–कलह, पराजय एवं अव्यवस्था कार काल है। एक ओर तो इस युग का क्षितिज विदेशी आक्रमणों के भयावह मेघों में आच्छादित रहा और दूसरी ओर रजवाड़ों की पारस्परिक भीतरी कलह घुन की तरह इसे खोखला करती रही। हर्षवर्द्धन की मत्यु के पश्चात् भारत की संगठित सत्ता चूर–चूर हो गई तथा भारत मे एक विशाल मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हो गई। आठवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक के भारतीय इतिहास की राजनीतिक परिस्थिति हिन्दू सत्ता के विकास की कहानी है।

ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी में दिल्ली में तोमर, अजमेर में चौहान और कन्नौज मे गाहडवालों के शक्तिशाली राज्य थे। 1150 में अजमेर के बीसलदेव चौहान ने तोमरों से दिल्ली से हिमालय तक अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। दूसरी तरफ यवन–शक्तियों के आक्रमण का प्रभाव मुख्यतः पश्चिम एवम् मध्यप्रदेश पर ही पड़ा था। इस क्षेत्र की जनता युद्धों तथ अधिकारियों के अत्याचारों से पीड़ित थी। इसी क्षेत्र में हिंदी भाषा का विकास हो रहा था। इस प्रकार इस काल का समस्त हिन्दी साहित्य आक्रमण तथा युद्ध के प्रभावों की मनः स्थिति का परिणाम रहा है।

आदिकालीन युग में चारों तरफ युद्धों का ही बोलबाला था इसलिए जीवन में कहीं भी सन्तुलन तथा शान्ति के दर्शन नहीं होते। इसी समय मोहम्मद गौरी ने भारत जीतने की लालसा से भारत पर अनेक आक्रमण किए। पथ्वीराज चौहान उस समय अजमेर का शक्तिशाली राजा था। परन्तु विदेशी आक्रमण के प्रति विशेष जागरूक नहीं था। परिणामस्वरूप कन्नौज के राजा जयचन्द के षड़यन्त्र मेंऽफँस कर

पथ्वीराज चौहान मोहम्मद गौरी के हाथों पराजित हुआ और मारा गया। जयचन्द तथा परमदिदेव आदि शासकों की पास्परिक लड़ाइयाँ अन्तहीन कथाएँ बनती चली गई और अन्त में दोनों का पतन हुआ। दिल्ली में तुर्क सल्तनत की स्थापना हुई और धीरे–धीरे उसका विकास तथा विस्तार होता चला गया। अराजकता, गह–कलह, विद्रोह, आक्रमण और युद्ध के वातावरण में यदि एक कवि आध्यात्मिक जीवन की बातें करता था, तो दूसरा मरते–मरते भी जीवन रस भोगना चाहता था और एक कवि ऐसा भी था जो तलवार के गीत गाकर गर्व से जीना चाहता था। यद्यपि इस युग में विरोध करने वाले भी सर्वत्र थे परन्तु फिर भी मुस्लिम ध्वज प्रायः समस्त उत्तरी भारत में फहराने लगा।

आदिकाल के इस युद्ध प्रभावित जीवन में कहीं भी सन्तुलन नहीं था। अराजकता, गह–कलह, विद्रोह, आक्रमण और युद्ध के वातावरण में सर्वत्र मारकाट का तांडव फैल चुका था। इसी काल की विचित्र देन है, जिसके फलस्वरूप यदि एक ओर स्त्री–भोग, हठयोग से लेकर आध्यात्मिक पलायन और उपदेशों तक का साहित्य एक ओर लिखा गया, तो दूसरी ओर ईश्वर की लोक–कल्याणकारी सत्ता में विश्वास करने, लड़ते–लड़ते जीने और संसार को सरस बनाने की भावना भी साहित्य रचना के मूल में सन्निहित हुई।

5.2 सामाजिक परिवेश

आदिकालीन राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का देश की सामाजिक परिस्थितियों पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा था। जाति–व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर न होकर वर्ण के आधार पर निरूपित की गयी। एक जाति अनेक उपजातियों में विभक्त हो गई। अल्बरूनी ने कहा है "उन्हें (हिन्दुओं को) इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गयी है, उसे शुद्ध करके फिर ले लें। उस समय के रूढ़िग्रस्त धर्म के समान समाज भी रूढ़िग्रस्त हो चुका था। नारियाँ भी शौर्य–प्रदर्शन में पुरूषों से कम न थी। जौहर उनके आत्म–बलिदान और शौर्य का प्रतीक था। राजाओं का जीवन विलास भरा था। उनका अधिकांश समय उपपत्नियों के साथ रंग रंलियों मे व्यतीत होता था। राजकुमारों को बचपन से ही राजनीति, तर्कशास्त्र, काव्यशास्त्र, नाटक, गणितशास्त्र एवं कामशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। नारियों के संबंध में तत्कालीन समाज की धारणा अच्छी नहीं थी। उसे केवल भोग और विलास की सामग्री मात्र समझा गया। हिंदी के कवियों को जनता की इस स्थिति के अनुसार काव्य–रचना की सामग्री जुटानी पड़ी।

जिस युग में धर्म और राजनीति की दुर्दशा हो उसमें उच्च सामाजिकता की आशा नहीं की जा सकती है। जनता शासन तथा धर्म दोनों ओर से निराश्रित होती जा रही थी। जनता भय तथा निरक्षरता के कारण ईश्वर की ओर दौड़ती थी, परन्तु सर्वत्र भ्रम और असहाय की ही स्थिति मिलती थी। जाँति–पाति के बन्धन मजबूत हो चले थे। एक जाति की अनेक उपजातियाँ होने लगी। छुआछूत के नियम भी सख्त हो गए थे। उच्च वर्ग के लोग भोग करने के लिए तथा निम्न वर्ग के लोग जैसे काम करने के लिए ही पैदा हुए थे। नारी तो केवल भोग की वस्तु मात्र रह गई थी। उसे खरीदा और बेचा भी जाने लगा था। सामान्यजन के लिए सुरक्षा व शिक्षा की कोई व्यवस्था ही नहीं थी। सती प्रथा भी उस समय के समाज का एक भयंकर अभिशाप थी। अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों ने इस समाज को जकड़ लिया था। उस समय सर्वत्र वीरता और वंश–कुलीनता का बोलबाला था। वीरता और आत्मबलिदान राजपूत की विशेषता थी। स्वयंवर प्रथा उस युग की एक खास पहचान थी। राजपूत दढ़–प्रतिज्ञे, स्वामिभक्त, ईमानदार तथा कूटनीतिज्ञ और दूरदर्शी थे, परन्तु उनमें भोग–विलास के प्रति भी खूव आसक्ति थी। राजाओं का जीवन भी विलासप्रिय था। नपति वर्ग का अधिकांश समय अन्तपुर में महिषियों, उपपत्तियों तथा रक्षिताओं के साथ रंग–रलियों मे बीतता था। राजा बहुपत्नी थे।

प्रसिद्ध धर्म–शास्त्रीय ग्रंथ 'मिताक्षरा' से तत्कालीन पारिवारिक व्यवस्था का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। परिवार सम्मिलित, पितसत्तात्मक और पितरस्थानीय था और उसमें सदस्यों की संख्या पर्याप्त रहती

थी। उनके धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक कर्त्तव्य निर्धारित कर दिये जाते थे। स्मत्तियों मे वर्णित ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, गान्धर्व, आसुर, पिशाच और राक्षक ये आठ प्रकार के विवाह सैद्धान्तिक दष्टि से मान्य थे। किन्तु व्यावहारिक दष्टि से ब्राह्म विवाह का ही अधिक प्रचार था। क्षत्रियों में राक्षक और गांधर्व विवाह अवश्य प्रचलित थे। निम्न वर्णों में आसुर विवाह की प्रथा थी। स्वयंवर की प्रथा राजपूतों तक ही सीमित रह गयी थी। मुसलमानी आक्रमणों के पश्चात् बाल–विवाह भी प्रचलित हो गया था। विलासिता की प्रवत्ति बढ़ने और यवन, शक, हूणादि के जिनमें स्त्री का बहुत ऊँचा स्थान नहीं था, सम्पर्क में आने के कारण बाल–विवाह की प्रथा को बल मिला। विधवा–विवाह करना निषेध ा था। समाज के विभिन्न वर्गों के विविध प्रकार के उत्सवों और वस्त्राभूषणों के प्रति प्रेम प्रचलित था। आखेट, मल्ल–युद्ध, घुड़सवारी, ध्रुत–क्रीड़ा, संगीत, नत्य आदि मनोरंजन के साधन थे और कवियों का विशेष आदर था। क्षत्रियों में मदिरा–पान, भाँग और अफीम खाने का प्रचलन था। इस काल का जीवन–क्रम उस समय की वस्तु और मूर्ति–कलाओं मे भली–भाँति प्रतिबिम्बित होता है। जैन मत के गिरिनार तथा आबू, वैष्णव एवं शाक्तों के खजुराहों, भुवनेश्वर और पुरी के मन्दिरों की अद्‌भुत कला के माध्यम से तत्कालीन जीवन की विविधतापूर्वक प्रेरणा स्पष्ट हो जाती है।

5.3 सांस्कृतिक परिवेश

हिंदी साहित्य में आदिकाल का आरम्भ उस समय हुआ जब भारतीय संस्कृति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। आदिकाल हिन्दू–मुस्लिम संस्कृतियों के परस्पर मिलन का काल है। हर्षवर्द्धन के समय हिन्दू संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र मे उन्नति के शिखर पर थी। लोगों के आपसी भेद–भाव समाप्त हो गए थे तथा स्वाधीनता व देशभक्ति की भावना को प्रोत्साहन मिल रहा था। संगीत, चित्रमूर्ति एवं भवन–निर्माण इत्यादि कलाओं में ज्यादा रूचि दिखाई देने लगी थी, विशेष रूप से मन्दिरों व मस्जिदों का निर्माण धार्मिक सद्‌भावना का घोतक था। भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहों, सोमनाथ, बेलोर काँची, तंजौर आदि स्थानों पर अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण आदिकाल के आरम्भ के समय ही बनाए गए थे। आबू का जैन मन्दिर ग्यारहवीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण देन है जो कि भारतीय स्थापत्य का बेमिसाल नमूना है। अरब इतिहासकार अलबरूनी तथा महमूद गजनवी इन मन्दिरों की भव्यता, विशालता तथा भारतीय कलाओं में धार्मिक भावनाओं की ऐसी व्यापक अभिव्यक्ति को देखकर चकित रह गए थे। किन्तु देश के भाग्य की विड़म्बना यह रही है कि शताब्दियों से श्रेष्ठता की साधना में तल्लीन महमूद गजनवी जैसे आक्रान्ताओं की विषयाकांक्षा का यह कोप–भाजन बन गया और शताब्दियों तक उस कोप से मुक्ति नहीं मिली।

अरब के देशों में आठवीं–नवीं शताब्दी में सूफी मत का उदय हो चुका था किन्तु आदिकाल के अन्त तक भी उसके उदार स्वरूप का प्रवेश तक न हो सका। क्योंकि भारत में जो आक्रान्ता आए, वे उदार भावनाओं के समर्थक नहीं थे। इसलिए इस्लाम संस्कृति का पोषक तत्त्व न बन सका। परिणामस्वरूप दो संस्कृतियाँ एक–दूसरे के सामने मानसिक तनाव की स्थिति में खड़ी एक–दूसरे को शंका की दष्टि से देखती रहीं।

आदिकाल में भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप मिलता है, वह परम्परागत गौरव से रहित तथा मुस्लिम संस्कृति के गहरे प्रभाव से निर्मित है। इस काल में हिन्दू–संस्कृति धीरे–धीरे मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित होने लगी। भारत के उत्सव, मेलों, त्यौहारों, वेश–भूषा विवाह तथा मनोरंजन आदि पर मुस्लिम रंग मिलने लगा। यहाँ के गायन, वादन तथा नत्य पर मुस्लिम छाप स्पष्ट है। भारतीय संगीत में सांरगी, तबला तथा अलगोजा जैसे वाधों का समावेश इसका स्पष्ट प्रमाण है। चित्रकला के क्षेत्र में इस काल में जो थोड़ा–बहुत कार्य हुआ, उस पर भी मुस्लिम प्रभाव पाया जाता है। मूर्तिकला को छोड़कर अन्य भारतीय ललित कलाओं में मुस्लिम कला की कलम गहरे रूप में लगी।

5.4 साहित्यिक परिवेश

यह युग पास्परिक कलह एवं बाह्य संघर्षो का युग था पर संस्कृत साहित्य की रचना अबाध होती रही और ज्योतिष, दर्शन एवं स्मति आदि विषयों पर टीकाएँ लिखी जाती रहीं। डा० रामगोपाल शर्मा ने लिखा है, कि इस काल में साहित्य–रचना की तीन धारायें बह रही थी। प्रथम संस्कृत साहित्य की थी, जो एक परम्परा के साथ विकसित होती जा रही थी। दूसरी धारा का साहित्य प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखा जा रहा था। तीसरी धारा हिन्दी भाषा में लिखे जाने वाले साहित्य की थी। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोजदेव, राजशेखर, तथा जयदेव इसी युग की देन हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश के कवि धर्म–प्रचार में लगे हुए थे, साहित्य तत्त्व उनकी रचनाओं का सहायक अंग था। हिंदी इस काल की ऐसी भाषा थी जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में मुखर हो रही थी।

ग्यारहवीं शती उत्तरार्द्ध साहित्य की दष्टि से विकासशील था। कर्ण के दरबार में अपभ्रंश कवियों का सम्मान था। जैन–भण्डारों में सुरक्षित ग्रन्थों की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश के निकट की है। उदाहरणार्थ, 'प्राकृत पैंगलम्' की कई कविताओं में कर्ण की प्रशंसा की गई है। ये कविताएं अपभ्रंश की हैं जो हिंदी के चारण कवियों की भाषा का पूर्णरूप है। इन कविताओं की भाषा सुथरी एवं साफ है। इस काल में दो श्रेणियों की रचनाएँ अपभ्रंश और देश्यामिश्रित रचनाएँ मिलती हैं। वे इस युग की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक अवस्था के अनुरूप ही है।

इस काल में व्रजयानी और सहजयानी सिद्धों, नांथपंथी योगियों, जैनधर्म के अनुयायी संत एवं मुनियों की रचनाएँ धार्मिक उपदेशपूर्ण शैली में मिलती हैं। वीरता तथा श्रंगार का चित्रण करने वाले चारणों, भाटों आदि की रचनाएँ भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं।

6. आदि कालीन साहित्यः वर्गीकरण

सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य, नाथ साहित्य, रासो साहित्य

6.1 सिद्ध साहित्य

बौद्धमत को मानने वाले ईश्वर की भक्ति का विरोध करते रहे, लेकिन धीरे–धीरे बुद्ध को भगवान के रूप में पूजने लगे। इस धर्म मे जब तान्त्रिक सिद्धों का प्रभाव बहुत बढ़ गया, तो यह धर्म अपने वास्तविक रूप और दिशा से एकदम बदल गया। आठवीं शताब्दी मे तान्त्रिक सिद्धों का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। इन्होंने बौद्ध धर्म के त्याग और संयम के स्थान पर भोग विलास को ही जीवन का लक्ष्य मान लिया। शराब पीना और नीच वर्ग की स्त्रियों को योगिनी कहकर उनसे भोग करना आवश्यक समझा जाने लगा। मांस, मत्स्य, मदिरा, मैथुन और मुद्रा, इन पाँच मकारों का सेवन इनकी साधना का प्रमुख अंग था। सिद्धों के चमत्कारों का नारी–समाज पर इतना प्रभाव पड़ा कि स्त्रियाँ लोक–लाज, कुल मर्यादा को छोड़कर विपरीत दिशा में जाने लगी। धर्म के नाम पर समाज में वासना अबाध गति से फूट कर बाहर निकल पड़ी। इन क्रियाओं का प्रयोग भी निर्वाण–प्राप्ति समझा जाने लगा। मन की निर्विकार और निश्चल स्थितियों के लिए 'महासुख' और 'सहजयान' की प्रधानता दी जाने लगी। ईश्वर से अद्वैत सम्बन्ध जोड़ने के लिए सिद्धि के लिए 'सरहप्पा' नाम के सिद्ध ने लिखा है कि 'खाते–पीते' सुख से रमण करते हुए ही जीवन व्यतीत करो।'

इन अनाचारी और वाममार्गी सिद्धों के मार्ग में पण्डित लोग और उनके शास्त्र बाधक थे, इसलिए अपने चेलों और चेलियों को ये उनके विरूद्ध शिक्षा देते थे। ये लोग 'निर्वाण साधना' या 'महासुख' का वर्णन बड़ी अश्लील वाणी में कर गए हैं। अपनी इस 'महासुख' अवस्था को ये 'समरस' अवस्था भी कहते

थे और अपनी खुली भाषा में आध्यात्मिक पुट देकर उसकी व्याख्या करते थे। इन सहजमानी सिद्धों की संख्या 84 मानी गई। इनमें कुछ संस्कृत के भी अच्छे विद्वान थे। सरहप्पा, शबरप्पा, लुइप्पा, होम्मिप्पा और कण्हप्पा आदि सिद्ध इनमें उल्लेखनीय हैं।

साहित्यिक योगदान की दष्टि से सिद्धों का साहित्य दोहा या दूहा नामक मुक्तक रूप में मिलता है। सिद्धों की नीति, रीति, श्रंगार एवं धर्म संबंधी मान्यताएँ हिंदी के आदि आदिकाल को तो प्रभावित नहीं करती पर संत साहित्य को अवश्य ही प्रभावित करती है, जिसे सिद्धों का योगदान माना जा सकता है।

कुछ सिद्धों का साहित्यिक परिचय

1. **सरहप्पा**: सिद्धों में सबसे अधिक प्रसिद्ध तो 'सरहप्पा' (सरोज वज्र) ही माने जाते हैं जिनका समय संवत् 690 वि० स्वीकार किया जाता है। 'सरहप्पा' की भाषा को 'संध्या भाषा' माना गया है जो कुछ स्पष्ट तथा कुछ अस्पष्ट होने के करण तथा पुरानी हिंदी तथा अपभ्रंश के बीच की होने के कारण भी संध्या भाषा कही गई है। सरहप्पा ने पंडितों को फटकारते हुए तथा अन्तः साधना पर जोर देते हुए लिखा है–

   "पंडिअ सअल सत्त बक्खाण्इ। देहहि बुद्ध बसंत न जाणइ।
   अमणागमण ण तेन विखंडिअ। तोविणिलज्ज मणइ हउँ पंडिअ।"

   - सरहप्पा

   अर्थात पंडित सकल तत्त्वों की व्याख्या करता है परन्तु वह यह नहीं जानता कि बुद्ध तत्त्व (ज्ञान) तो शरीर में रहता है। वह पंडित जीवन मरण से मुक्ति पाने में असमर्थ है फिर भी वह निर्लज्ज अपने को पंडित कहता है। इस दोहे का जो भावार्थ है वैसी ही फटकार कबीरदास भी पंडितों को सुनाते है। सरहप्पा का एक और दोहा शरीर में ही वह स्थान बताता है जो मन का विश्राम स्थल है।

   "जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेस।
   तहि बट चित्त विस्राम करू, सरहे कहिअ उवेस।।"

   - सरहप्पा

   अर्थात जिस मन में पवन संचारित नहीं होती और जहाँ रवि तथा शशि भी प्रवेश नहीं पा सकते, वहाँ बैठकर चित्त विश्राम करता है। सरहप्पा यही उपदेश देता है।

2. **लूहिया (संवत् 830 के लगभग)**: सिद्ध लूइया के 'चर्यागीत' तथा दोहों में भी संध्या भाषा का प्रयोग हुआ है। भाव की दष्टि से बौद्ध धर्म की मान्यताओं को ही अपने स्वार्थहित घुमा–फिरा कर बताया गया है। जैसे

   "काआ तरूवर पंच बिड़ाल। चंचल चीए पइठो काल।

   दिट करिअ महा सुइ परिणाम। लूइ भणइ गुरू पुच्छिअ जाण।।"

   - लूइया

   इस दोहे का रहस्यात्मक अर्थ है। इस प्रकार की रहस्यात्मक प्रवत्ति परवर्ती सन्त–साहित्य को प्रभावित करती है। इन पंक्तियों को सरलार्थ है कि काया रूपी वक्ष को पंच बिडाल नष्ट कर रहे हैं। चंचल चित्त मत्यु की ओर ले जाने वाला है। इसका परिणाम महाशून्य है। लूइया कहता है कि इसका रहस्य गुरू से जानिए।

3. **कण्हप्पा**: (कृष्णापाद संवत् 900 वि० के उपरान्त) सिद्ध साहित्य में कण्हपा की बानी को भी पर्याप्त महत्त्व प्राप्त है। कण्हपा द्वारा प्रयुक्त सन्ध्या भाषा का उदाहरण इस प्रकार है–

"एक्क णा किज्जइ मंत्र शा तंत्र। णिअ घरणी लइ केलि करंत।
णिअ घरघरणी जाव शा मज्जइ। ताव कि पंचवर्ष विहरिज्जइ।।"

अर्थात् एक व्यक्ति मन्त्र–तन्त्र का जाप न करके नित्य अपनी स्त्री के साथ क्रीड़ा करता रहता है। जब तक घरणी रूप घर की नित्य स्वच्छता नहीं की जाती तब तक पंच विहारों में ही घूमता रहता है। इसका भाव नित्य स्त्री–सेवन को संकेतित करता है। वज्रयानियों की सिद्ध मंडली योग एवं मन्त्र–तन्त्र साधना के लिए मद्य तथा स्त्री (डोमिनी, रजकी आदि) का सेवन आवश्यक बताती रही, इसीलिए सिद्ध कण्हप्पा ने डोमिनी के साथ संभोग क्रीड़ा करने के लिए कुछ गीत गाए, जिन में से एक इस प्रकार से है।

"आलो डोंबि! तोए सम करिब म सांग।
निधिण कण्ह कपाली जोइ लाग।।"
× × × ×
"हालों डोंबी! तो पुछमि सद भावे।
आइससि जसि डोंवी का हरि नावे।।"
- कण्हप्पा

सिद्ध साहित्य का योगदान

1. भाषा के विकास की दष्टि से सिद्धों द्वारा प्रस्तुत अपभ्रंश भाषा ने हिंदी को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। क्योंकि 'संध्याभाषा' की शब्दावली से बहुत से शब्द–रूप कबीर आदि सतों की बानियों में प्रयुक्त किए गये हैं।

2. शैली की दष्टि से भी सिद्ध साहित्य के मुक्तक काव्य से दूहा यह दोहा, पद, चर्चा गीत तथा रहस्यात्मक उक्तियों से हिंदी में दोहा पद तथा गीति काव्य रूपों का प्रयोग, मैथिल–कोकिल विद्यापति तथा संतों ने खूब किया है।

3. भाव की दष्टि से भी सिद्धों की बोलियों ने रागात्मक वत्ति का विकास करके श्रंगारी भाव का सन्देश दिया है।

4. दार्शनिक अथवा रहस्यात्मक दष्टि से सिद्ध–साहित्य ने शंकर के अद्धैतवाद तथा बौद्ध धर्म के शून्यवाद को मिलाकर शरीर में सारी सष्टि को बताकर उसका उपभोग करने की प्रवत्ति जगाई।

5. सिद्धों का प्रभाव वीर–गाथाओं पर तो नगण्य है परन्तु श्रंगारी भाव का प्रभाव स्पष्ट रूप से इन पर देखा जा सकता है। आदिकालीन कवि विद्यापति पर यह प्रभाव स्पष्ट रहा है।

6. सिद्ध–साहित्य ने संत–साहित्य को विशेषतः कबीर, दादू तथा रविदास आदि कवियों को रहस्यवाद के क्षेत्र में तथा उलट–बांसियों के क्षेत्र में बहुत प्रभावित किया है।

6.2 जैन साहित्य

भगवान महावीर का जैन साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भगवान महावीर ने अपने धर्म का प्रचार लोकभाषा के माध्यम से किया। पहले जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार उत्तरी भारत में अधिकाधिक रूप

से फैला। गुजरात मे इसकी प्रधानता 8 वीं शताब्दी से 13 वीं शताब्दी तक बनी रही। वहाँ के चालुक्य, राष्ट्रकूट और सोलंकी राजाओं पर इसका पर्याप्त प्रभाव रहा है।

भगवान् महावीर का जैनधर्म हिन्दू के सदाचारों के अधिक समीप है। जैन धर्म का ईश्वर सष्टिनायमक नहीं है। वह चित् एवं आनन्द का स्रोत है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी साधना और पौरूष से परमात्मा का रूप धारण कर सकता है। इस धर्म की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसमें ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह का विशेष महत्त्व है। प्रारम्भिक जैन साहित्य में दोहा–चौपाई पद्धति पर चरित–काव्य या आख्यानक काव्य का निर्माण हुआ। यही परम्परा आगे चलकर सूफी कवियों द्वारा ग्रहण कर ली गई। डा० वार्ष्णेय ने लिखा है, "जैनधर्म की दोहा–चौपाई पद्धति आगे चलकर सूफी कवियों, तुलसी आदि द्वारा अपनाई गई। इन प्रारंभिक रचनाओं के आधार पर ही पुरानी हिंदी का जन्म और पीछे खींच ले जाया जाता है।"

जैन आचार्यों ने प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश में प्रचुर रचनाएँ लिखीं। इनका साहित्य मूलतः धर्म–प्रचार का साहित्य है, किन्तु साहित्यिक सौष्ठव के अंश पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। तत्कालीन व्याकरणादि ग्रंथों में इस साहित्य के उद्धरण मिलते हैं। स्वयंभू, पुष्पदंत, घनपाल जैसे जैन कवियों ने हिन्दुओं की रामायण और महाभारत की कथाओं के राम और कृष्ण के चरित्रों को अपने धार्मिक सिद्धान्तों और विश्वासों के अनुरूप अंकित किया है। इन पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त जैन तीर्थकारों एवं महापुरूषों के चरित्र लिखे गये तथा लोक–प्रचलित प्रसिद्ध नैतिकतावादी आख्यान भी जैन धर्म के रंग में रंग कर प्रस्तुत किये गये हैं। जैन–साहित्य में शान्तरस की प्रधानता रही।

साहित्य को जैन-मुनियों का योगदान

हिंदी साहित्य एवं भाषा को जैन आचार्यो ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अपभ्रंश भाषा को जैन–साहित्य ने न केवल भाषा–विकास की दष्टि से ही योगदान दिया है, बल्कि भावों, विचारों, जीवन–दर्शन संबंधी भी कुछ ऐसा योगदान दिया है जिससे आदिकालीन हिंदी के रासो ग्रंथों तथा चरित–काव्यों पर विशेष प्रभाव तो काव्य रूप की दष्टि से पड़ा, साथ ही जैनियों के जीवन–दर्शन ने भी संतों को अन्तर्मुखी प्रवत्ति की ओर प्रवत्त किया। जैनाचार्यों की हिंदी भाषा को देन इस प्रकार रही है–

1. **आध्यात्मिक दर्शन संबंधी देन**ः जैन मुनियों तथा आचार्यों ने अपनी रचनाओं में आत्मा, परमात्मा, जीव, ब्रह्म, जगत, माया, समाधि तथा मोक्ष आदि का विवेचन किया जिसका प्रभाव परवर्ती भक्ति–साहित्य पर पड़ा। जैनियों ने सिद्धान्त रूप में यह बताया है कि जीवात्मा तथा परमात्मा में तात्विक अन्तर नहीं केवल गुणात्मक अन्तर है। जो भेद आत्मा और परमात्मा में है वह माया के कारण ही है, ऐसी ही मान्यताएं ज्ञानाश्रयी संत–साहित्य की भी हैं।

2. **वर्ण विषय संबंधी योगदान**ः ब्रह्म के विषय में जैन–साहित्य की मान्यता है कि वह ब्रह्म व्यापक है, अनिर्वचनीय, अनादि, अनन्त तथा निरंजन है। यही भावना कबीर आदि संतों की भी रही है। कबीर का रहस्यवाद भी इसी अन्तर्मुखी प्रवत्ति का सूचक है। ब्रह्म तो योगियों के हृदय में रमता है। रमण करने के कारण ब्रह्म को राम भी कहा है। जैन–साहित्य में कर्म संबंधी यह मान्यता है कि समाधि की अवस्था में सभी कर्म विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए जैनियों ने समाधि द्वारा कर्म–फल की मुक्ति से निर्वाण पद की प्राप्ति बताई है। जैन मुनियों ने प्रयोगात्मक मुक्ति प्राप्त करने के साधन बताते हुए गहस्थ धर्म के त्याग की बात कही है। कर्मों के कारण जीवात्मा बन्धनों से मुक्त केवल समाधि ा अवस्था मे ही हो सकता है। समाधि कष्टसाध्य है इसलिए वह सुख में बाधक है। विषयों के भोग तथा तष्णादि से समाधि या मुक्ति नहीं मिल सकती। जैन मुनियों में मुनि रामसिंह ने कहा है–

"मुंडिय मुंडिय मुंडिय।
सिर मुंडिय चित्त ण मुंडिया।
चित्तहउ मुंडिय जि कियहु
संसार खंड णु तिकियउ ।।"

अर्थात अरे, तुम अपना सिर तथा दाढ़ी–मूँछ तो मुँडवाते हो, परन्तु अपने मन को काबू में नहीं करते। जो अपने चित्त को मुँडता है, अर्थात् मन पर काबू कर लेता है, उसे संसार नहीं मिटा सकता।

इसी प्रकार की मान्यता कबीरदास की भी रही है जब वह कहते हैं–

"दाढ़ी मूंछ मुंडाय कै, हुआ जो घोटम घोट।
मन को क्यों नहिं मुंडिये जामें भरिया खोट।।"

अर्थात् अरे भोले मनुष्य, तू दाढ़ी, मूँछ तथा सिर मुंडा कर घोटम घोट तो हो गया परन्तु इसमे कोई लाभ नहीं। तू अपने मन को क्यों नहीं मुंडता (काबू करता) तेरे इस मन में ही खोट भरे हुए हैं।

3. **जैन-साहित्य का काव्य रूप**: जैन आचार्यों ने अधिकांश रूप में चरित–काव्यों की रचना की है। इन चरितकाव्यों को लोककथाओं के रूप में ढाला गया है। इसी काव्यरूप ने मध्यकालीन महाकाव्यों को प्रभावित किया है। तुलसी का 'रामचरितमानस' निश्चित रूप से चरित काव्यों की परम्परा का विकसित रूप है। स्वयंभू द्वारा रचित 'पउम चरिउ' से तुलसी तथा जायसी दोनों ही प्रभावित हुए है।

4. **जैन-साहित्य की भाषा एवं वर्णन-शैली**: जैनाचार्यों ने चरित–काव्यों में दोहा, छप्पयों तथा चौपाइयों की छन्दोबद्ध वर्णन–शैली को अपनाया और पच्चीस चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा लिखने की शैली अपनाई। 'रामचरित मानस' पर भी इसी वर्णन शैली का प्रभाव देखा जा सकता है। प्रकृति चित्रण, वर्षा, पशु–पक्षी आदि का वर्णन भी जैन मुनियों ने अपने महाकाव्यों तथा खंडकाव्यों में किया था जिसका प्रभाव हिंदी परवर्ती महाकाव्यों तथा खण्ड काव्यों पर भी देखा जा सकता है। अलंकारों की दष्टि से भी जैन साहित्य ने हिंदी भाषा के अलंकार विधान को योगदान दिया है।

भाषा प्रयोगिक तौर पर तो जैन–आचार्यों का अपभ्रंश साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ही, क्योंकि जब हिंदी का कोई भाषा वैज्ञानिक व्यावहारिक रूप से शब्दों के किसी रूप का विकास अन्वेषित करना चाहता है तो उसे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा पुरानी हिंदी के शब्दों, रूपों का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है। इसलिए अपभ्रंश साहित्य हिंदी भाषा के विकास क्रम को सम्यक् रूप से समझने के लिए अनिवार्य है।

जैन मुनियों के अपभ्रंश साहित्य ने हिंदी के आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल को किसी न किसी भांति अवश्य ही प्रभावित किया है। जीवन–दर्शन आध्यात्मिक रहस्यवाद, काव्य रूप, वर्णन शैली तथा भाषागत योगदान को देखकर कहा जा सकता है कि हिंदी भाषा साहित्य को भली भाँति समझने के लिए अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन भी कर लेना आवश्यक है, क्योंकि वह अविच्छिन धारा भारतीय वाङ्मय को सुचारू रूप से उजागर करती है।

6.3 नाथ साहित्य

नाथ साहित्य उपदेशात्मक साहित्य ही है जिसे 'धार्मिक साहित्य' भी कहा जा सकता है। नाथों में 'गोरख' एकमात्र ऐसे योगी हैं जो कबीरादि संतों पर विशेष रूप से प्रभाव डालते हैं। गुरू

गोरखनाथ ने तथा उनके अनुयायियों ने गद्य तथा पद्य दोनों में ही पुस्तकें लिखी हैं। जो पुस्तकें नाथ साहित्य से संबंधित है, उनके नाम ये है 'गोरखनाथ की बानी' 'गोरख सार' 'गोरख—गणेण गोष्ठी', 'गोरखनाथ', 'की सत्रह कला', 'महादेव गोरख संवाद', 'दत्तात्रेय गोरख संवाद,' 'विराट पुराण', 'नखइ बोध', 'योगेश्वरी साखी', तथा 'गोरख योग',।

महायान से बज्रयान, बज्रयान से सहजयान और सहजयान से नाथ—सम्प्रदाय का विकास हुआ। जीवन को कर्मकाण्ड के जाल से मुक्त कर सहज रूप की ओर ले जाने का श्रेय नाथों को ही जाता है। इस प्रकार यह सम्प्रदाय सिद्ध—सम्प्रदाय का विकसित एवं पल्लवित रूप है। सिद्धों की विचारधारा को लेकर इस सम्प्रदाय ने उसमें नवीन विचारों की प्राण—प्रतिष्ठा की है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार इस सम्प्रदाय के 'सिद्ध—मत', 'सिद्ध—मार्ग', 'योग—मार्ग', 'योग—सम्प्रदाय', 'अवधूत—मत', 'अवधूत—सम्प्रदाय' आदि नाम स्वयं सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित है। मनुष्यों में मत्स्येन्द्रनाथ इस परम्परा के सर्वप्रथम आचार्य माने जाते हैं। ये कौल साधक थे। कौल—साधना में साधक का प्रधान कर्त्तव्य जीव—शक्ति को जागत करना है जो जगत् में व्याप्त है और जो कुण्डलिनी के रूप में मनुष्य शरीर में स्थित है। गोरखपंथी साहित्य के अनुसार आदिनाथ स्वयं शिव थे। उनके पश्चात् मत्स्येन्द्रनाथ हुए और उनके शिष्य गोरखनाथ थे। नाथों की संख्या प्रधानतः नौ मानी जाती है। नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, गोरखनाथ, चर्पट, जलन्धर और मलयार्जुन, किन्तु नाथ पंथियों के भी 84 सिद्ध कहे जाते हैं।

इस सम्प्रदाय में इन्द्रिय—निग्रह पर विशेष बल दिया गया। इन्द्रियों के लिए सबसे बड़ा आकर्षण नारी है। अतः नारी से दूर रहने की शिक्षा दी गयी है। इस संबंध में डॉ० शिवकुमार ने कहा है "सम्भव है कि गोरखनाथ ने बौद्ध विहारों में भिक्षुणियों के प्रवेश का परिणाम और उनका चारित्रिक पतन देखा हो तथा कौल पद्धति या वज्रयान के वाममार्ग मे भैरवी और योगिनी रूप नारियों की ऐन्द्रिक उपासना में धर्म को विकृत होते देखा हो।"

नाथपंथ की दार्शनिकता सैद्धान्तिक रूप से शैवमत के अन्तर्गत है और व्यावहारिकता की दष्टि से हठयोग से संबंध रखती है। मूलतः हठयोग देह—शुद्धि का साधन मात्र है। नाथ साहित्य के महत्त्व की ओर संकेत करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "इसने परवर्ती संतों के लिए श्रद्धाचरण प्रधान धर्म की पष्ठभूमि तैयार कर दी थी। जिन संत साधकों की रचनाओं से हिंदी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत कुछ बनी बनायी भूमि मिली थी। डा० रामकुमार वर्मा ने नाथपंथ के चरमोत्कर्ष का समय बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक माना है। उनका मत है कि नाथ—पंथ से ही भक्तिकाल में संत—मत का विकास हुआ था जिसके प्रथम कवि कबीर थे। इस मन्तव्य का समर्थन कथ्य और शिल्प दोनों दष्टियों से हो जाता है—नाथपंथी रचनाओं की अनेक विशेषताएँ संत—काव्य में यथावत् विद्यमान है। डा० लक्ष्मीसागर ने लिखा है, "यद्यपि कबीर द्वारा प्रवर्तित संत—साहित्य पर सिद्धों का भी प्रभाव है, किन्तु उसकी नींव नाथ—पंत ने ही डाली थी। सिद्ध यदि पूर्वी भारत में क्रियाशील थे, तो नाथ—पंथियों का क्षेत्र राजपूताना और पंजाब अर्थात् पश्चिमी भारत था।"

(i) **गोरखनाथः** नाथपंथियों में सबसे अधिक प्रभावशाली गोरखनाथ है। ये मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। राहुल सांस्कृत्यायन ने गोरखनाथ का समय 845 ई० माना है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी उन्हें नवीं शती का मानते हैं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तेरहवी शती का बतलाते है। डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ग्यारहवी शती का मानते हैं तथा डा० रामकुमार वर्मा शुक्ल भी इस मत से सहमत हैं। गोरखनाथ का मुख्य स्थान गोरखपुर माना जाता है किन्तु इनके मत का अधिक प्रचार पंजाब तथा राजस्थान में हुआ।

(ii) **रचनाएँ**: इनके ग्रंथों की संख्या चालीस मानी जाती हैं किन्तु डा० बड़थ्वाल ने केवल चौदह रचनाएँ ही उनके द्वारा रचित मानी हैं, जिनके नाम हैं–सबदी, पद, प्राणसंकली, सिष्यादरसन, नरवै–बौध, अभेमात्रा जोग, आतम–बोध, पन्द्रह तिथि, सप्तवार, मघीन्द्र गोरखबोध, रोमावली, ग्यानतिलक, ग्यानचौंतीस एवं पंचमात्रा। गोरखनाथ ने षट्चक्रों वाला योग–मार्ग हिंदी साहित्य में चलाया था। इस मार्ग में विश्वास करने वाला हठयोगी साधना द्वारा शरीर और मत को शुद्ध करके शून्य में समाधि लगाता था और वही ब्रह्म को साक्षात्कार करता था। गोरखनाथ ने कहा है कि वीर वह है, जिसका चित्त विकार–साधन होने पर भी विकृत नहीं होता।

नौ लख पातरि आगे नाचै, पीछे सहज अखाड़ा।
ऐसे मन लै जोगी खेलै, तब अंतरि बसै भँडारा।
मूर्त जगत् में अमूर्त का स्पर्श करते हुए उन्होंने लिखा है,
अंजनमाँहि, निरंजन चेट्या, तिल मुख भेट्या तेल।
मूरति माँहि अभूरति परस्या, भया निरंतरी खेल।।

चौरासी सिद्धों में सरहप्पा, कण्हप्पा, लूहप्पा तथा नौ नाथों में गोरखनाथ की साहित्यिक देन के आध ाार पर हम उसे तीन वर्गों मे बाँट सकते हैं

1. जीवनदष्टि से योगदान। (दार्शनिक)
2. भाषा के विकास की दष्टि से योगदान (भाषा वैज्ञानिक)
3. काव्यरूपों की दष्टि से योगदान (काव्यशास्त्रीय)

विचारों की दष्टि से जो योगदान नाथों ने दिया, वह इस प्रकार रहा है–

1. वैदिक दर्शन के विरोधियों तथा पक्षधरों को मध्यवर्गी विचारधारा से प्रभावित किया है। बौध धर्म तथा शांकर अद्वैत को विचारों के धरातल पर समीप लाकर नाथों ने अपनी योग साधना से शैव तथा शाक्त दर्शन को भी मिलाने का कार्य किया है।
2. इंडा, पिंगला, सुषुम्ना, सुरति, निरति, सूर्य, एवं चन्द्र, नाड़ियों आदि के अशास्त्रीय प्रयोग को लोकशास्त्रीय हठयोगी पारिभाषिक शब्दावली में समाविष्ट करके शरीर में ही सष्टि की कल्पना की।
3. ब्रह्म कर्मकाण्डीय साधना की अपेक्षा आन्तरिक, सहज अथवा हठयोगी साधना पर बल दिया है, जिसका प्रभाव कबीर आदि संतों की वाणियों में देखा जा सकता है। 'महाकुण्डलिनि' अथवा 'पराशक्ति' तो सारे संसार में व्याप्त है परन्तु स्त्री का प्रतिरूप कुण्डलिनी शक्ति मनुष्य के शरीर में ही व्याप्त है। उसी की साधना करने से मनुष्य आत्मतत्व को पहचान लेता है।
4. ब्रह्मा सष्टि को मिथ्या बताकर लोगों को शांकर अद्वैत के मायावाद के निकट लाने का कार्य भी नाथों ने किया ।
5. शिव तथा शक्ति की एकता दिखाकर नाथों ने एक नई तथा वांछनीय विचारधारा से लोगों को भारतीय जीवन–दर्शन से जोड़ने को अनुपम कार्य किया। गुरू गोरख तथा उसके गुरू मत्स्येन्द्र नाथ (मछेन्द्र नाथ) के वार्तालाप से यह तथ्य स्पष्ट किया जा सकता है कि नाथों ने शिव एवं शक्ति को कैसे मिलाकर प्रस्तुत किया है।

गुरू गोरख पूछते हैं–

"स्वामि! कहाँ बसे शक्ति और कहाँ बसे सीव?
कहाँ बसै पवना, कहाँ बसे जीव?
कहाँ होइ इनका परचाल है?"

गोरख संवाद

गुरू मछेन्द्र नाथ उत्तर देते हैं–

"अबधू! अधैं बसै सक्ति, अधैं बसै सीव।
मध्य बसै पवनि, औ अन्तर बसै जीव।
सारे सरीर होत इनका परचाल है।"

गोरख संवाद

भावार्थ यह है कि वेदान्तीय वाक्यों का अनुवाद करके यह स्थापना की गई कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ और सारा संसार ब्रह्ममय है।' शिव तथा शक्ति तो शरीर के आधे–आधे भाग में व्याप्त हैं। इसी विचारधारा ने आगे चलकर शिव का अर्धनारीश्वर रूप भी बनाया। दर्शन की रहस्यात्मक शास्त्रीय मान्यताओं को नाथों ने उन बोलियों में अभिव्यक्त किया जिससे प्रभावित होकर कबीरादि संतों की रहस्योक्तियों तथा विरोधाभासी कथन की उलटबांसियों को प्रेरणा मिली।

6.4 रासो सहित्य

रासो–काव्य' के रचना–स्वरूप के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की धारणाओं को व्यक्त किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार बीसलदेव रासो में प्रयुक्त 'रसायन' शब्द ही कालान्तर में 'रासो' बना। मोतीलाल मेनारिया के अनुसार– "जिस ग्रंथ में राजा की कीर्ति, विजय, युद्ध तथा वीरता आदि का विस्तत वर्णन हो, उसे 'रासो' कहते है।"

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार–'रासो' तथा'रासक' पर्याप्त है और वह मिश्रित गेय–रूपक है।" डा० भागप्रसाद गुप्त के अनुसार विविध प्रकार के रास, रासावलय रासा और रासक छन्दों रासक और नाट्य–'रासक, उपनाटकों रासक' रास तथा रासो–नत्यों से भी रासो–प्रबन्ध–परम्परा का संबंध रहा है– यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता।

रास काव्य मूलतः रासक छन्द का समुच्चय है। अपभ्रंश में 29 मात्राओं का एक रासा या रास छंद प्रचलित था। विद्वानों ने दो प्रकार के 'रास' काव्यों का उल्लेख किया है–कोमल और उद्धत। प्रेम के कोमल रूप और वीर के उद्धत रूप का सम्मिश्रण पथ्वीराज रासो में है।

चारण साहित्य की जिस समय रचना हो रही थी वह समय अनुकूल नहीं था, क्योंकि पूरा देश छोटे–छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। प्रत्येक राज्य का राजा अलग होता था। प्रत्येक राज्य मे आये दिन युद्ध हुआ करते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन सामाजिक स्थिति खंडित पड़ी हुई थी। उस समय एक धर्म के लोग दूसरे धर्म और सम्प्रदाय के लोगों को नीचा दिखाने की चेष्टा में लगे हुए थे।

रासो साहित्य सामंती–व्यवस्था प्रकृति और संस्कार से उपजा हुआ साहित्य है।

(i) **रास काव्य परंपरा का विकासः** रासो–काव्य की परंपरा संस्कृत व प्राकृत में नहीं मिलती। अपभ्रंश वैविध्य में जैसा कि विवेचन मिलता है। रासो ग्रंथों का संक्षेप में विवेचन इस प्रकार है–

(क) ***उपदेश रसायन***–इसके रचनाकार श्री जिनदत्त सुरि हैं। इसका रचनाकाल 1200 वि० के लगभग है। इसका विषय जैसा कि नाम से प्रकट है, धर्मोपदेश है।

(ii) **भरतेश्वर बाहुबली रास**ः इसके रचनाकार शलिभद्र सूरि हैं। इसकी रचना संवत् 1241 में की गई। इस ग्रंथ मे भरतेश्वर तथा बाहुबली का चरित्र वर्णन है। कवि ने इन दोनों राजाओं की वीरता युद्ध आदि का विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु हिंसा और वीरता के पश्चात् विरक्ति और मोक्ष के भाव प्रतिपादित करना कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है। 205 छंदों में रचित यह एक सुन्दर खंडकाव्य है।

(iii) **स्थूलभद्र रास**ः जिन धर्म सूरि ने 1209 ई० में इस ग्रंथ की रचना की। इस कृति का नायक स्थलिभद्र कोशा नाम की वेश्या के साथ भोगलिप्त रहता है। अंत में स्थलिभद्र को कवि ने जैन धर्म की दीक्षा लेने के बाद मोक्ष का अधिकारी सिद्ध किया है। इस काव्य की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक है फिर भी इसकी भाषा का मूल रूप हिंदी ही है।

(iv) **चंदनबाला रास**ः उसके रचियता कवि आसगु है। यह कृति पैंतीस छंदों का एक लघु खंड काव्य है, जिसकी रचना 1200 ई० के लगभग आसगु नामक कवि ने जालौर मे की थी। इसकी कथानायिका चन्दनबाला चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन की पुत्री थी। एक बार कौशाम्बी के राजा शतानकि ने चम्पा नगरी पर आक्रमण किया, जिसमें उसका सेनापति चन्दनबाला का अपहरण कर ले गया और एक सेठ को बेच दिया। सेठ की स्त्री ने उसे अपार कष्ट दिए। चन्दनबाला अपने सतीत्व पर अटल रहकर सब दुःख सहती रही और अंत मे महावीर से दीक्षा लेकर मोक्ष को प्राप्त हुई। इस प्रकार लघु कथानक पर आधारित यह जैन रचना करूण रस की गंभीर व्यंजना करती है।

(v) **नेमिनाथ रास**ः इस ग्रंथ की रचना सुमति मणि ने 1213 ई० मे की थी। 58 छंदों की इस रचना में कवि ने नेमिनाथ का चरित्र सरस शैली में प्रस्तुत किया है। रचना की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिंदी है।

(vi) **रेवतं गिरी रास**ः इस काव्य कृति के रचियता विजयसेन सूरि है। उन्होंने इस ग्रंथ की रचना 1231 ई० में की थी। इस काव्य में तीर्थकर नेमिनाथ का प्रतिमा तथा रेवंतागिरी तीर्थ का वर्णन है। प्रकृति के रमणीक चित्र इस काव्य के भाव पक्ष तथा कलापक्षों का श्ंगार करते हैं।

रासो काव्य परंपरा का विकास

छंद वैविध्य परक रासो परंपरा की 'संदेश रासक' सुप्रसिद्ध रचना है।

1. पथ्वीराज रासो
2. बीसलदेव रासो
3. परमाल रासो
4. खुमान रासो
5. हम्मीर रासो
6. विजयपाल रासो

1. **पथ्वीराज रासो** : पथ्वीराज रासो को हिन्दी भाषा एवं साहित्य का 'प्रथम महाकाव्य' होने का गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। वीरगाथा कालीन ग्रंथों में यही ग्रंथ सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वास्तव में वीरगाथा कालीन साहित्य की प्रतिनिधि रचना होने के कारण इसका महत्त्व

साहित्यिक मानदण्ड स्थिर करने में भी सहायक है। इस ग्रंथ के रचियता चन्दवरदाई हैं जो पथ्वीराज चौहान के सखा, दरबारी कवि तथा एक वीर सेनापति रहे। इस ग्रंथ की कथावस्तु में अग्निकुल के राजपूतों की उत्पत्ति से लेकर मुहम्मद गौरी द्वारा पथ्वीराज के पकड़े जाने तक का समग्र जीवन तथा ऐतिहासिक घटनाओं के साथ–साथ पथ्वीराज तथा जयचन्द की शत्रुता एवं संयोगिता स्वयंवर आदि का भी वर्णन किया है।

इस ग्रंथ की रचना 69 समयों (अध्यायों) में की गई है।

2. **बीसलदेव रासो**ः इस वीर गीत काव्य की रचना संवत् 1212 विक्रमी में हुई थी। इस की रचना करने वाले नरपति नाल्ह है। उन्होंने अपने आश्रयदाता विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव के चरित्र का सुन्दर वर्णन किया है। बीसलदेव बड़े वीर तथा पराक्रमी राजा थे उन्होंने यवनों के विरूद्ध कई सफल युद्ध किए।

3. **परमाल रासो**ः इस ग्रंथ के रचनाकार जगनिक नामक भाट कवि हैं जिनका समय सवंत् 1230 है। जगनिक ने अपने आश्रयदाता चन्देले राजा परमाल के दरबार में रहते हुए वीर गीत काव्य की (52 लड़ाइयों की) रचना की।

4. **खुमान रासो**ः यह प्रबन्धात्मक काव्य दलपति विजय नामक कवि द्वारा रचित है। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि इस ग्रंथ की जो मूल प्रति उपलब्ध हुई है। उसमें चितौड़ के द्वितीय खुमान के युद्धों का वर्णन है, जिसका समय 870 तथा 900 सवंत् के बीच माना गया है। जो प्रति वर्तमान युग की लिखी अथवा छपी मिलती हैं, उसमें बहुत परिवर्तन मिलता है। आधुनिक उपलब्ध प्रतियों को देखकर यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि मूल ग्रंथ की सामग्री क्या है। इस ग्रंथ की भाषा डिंगल ही है जो पुरानी राजस्थानी या मारवाड़ी कही जा सकती है।

रासो साहित्य सामंती व्यवस्था, प्रकृति और संस्कार में उपजा हुआ साहित्य है। जिसका संबंध ा पश्चिमी हिंदी प्रदेश से है। इसे 'देशभाषा काव्य' नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस साहित्य के रचनाकारों को हिन्दू राजपूत राजाश्रय में रहने वाले चारण या भाट समाज में सम्मान का स्थान प्राप्त था। ये चारण कला पारखी और कला–रचना में निपुण होते थे। ये लोग योद्धा भी थे।

जब भी कोई लिपिकार किसी पुरानी पोथी को लिपिबद्ध करता है तो वह अपने समकालीन राजाओं से सम्बद्ध कथानकों को इसलिए जोड़ देता है ताकि उसके आश्रयदाता को भी महत्त्व मिल जाये। यह तथ्य 'खुमाण रासो' में जुड़े बाद के प्रक्षिप्त अंश को देखने से स्पष्ट हो जाता है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में "वत्त–संग्राहकों के पास इतिहास को समझने की पैनी दष्टि थी, इसीलिए राजस्थान में रहते हुए भी वे आदिकाल की समाप्ति को भक्तिकाल और रीतिकाल के भण्डार में डालने का दुराग्रह करके यश अर्जित कर रहे हैं, जबकि वह सामग्री उन कालों की प्रवत्तियों से किसी भी रूप में मेल नहीं खाती। इन लोगों ने रचनाकारों के नामों के संबंध में भी भ्रम पैदा कर दिया है।"

इस ग्रन्थ की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति–पूना संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें कुल पाँच हजार छंद हैं। इसमें समकालीन राजाओ के आपसी विवादों के बाद हुई एकता के साथ–साथ अब्बासिया वंश अलमॉमू खलीफा और खुमाण के साथ हुए युद्ध का चित्रण मिलता है। इस कृति का प्रमुख सरोकार राजा खुमाण का चरित्रांकन करना है। उनके चरित्र के दो प्रस्थान बिन्दु हैं– एक युद्ध और दूसरा प्रेम। इसकी भाषा राजस्थानी हिंदी है। यथा–

"पिउ चितौड़ न आविऊ सावण पहिली तीज।
जोवै वाट रति विरहिणी, खिण-खिण अणवै खीज।।
संदेसो पिउ साहिबा, पाछो फिरिय न देह।
पंछी घाल्या पीज्जरे, छूटण रो संदेस"।।

5. **विजयपाल रासो**: मिश्रबंधुओं ने इस परम्परा की एक कृति 'विजयपाल रासो' का उल्लेख किया है जिसके रचियता नल्लसिंह है। इस कृति का नायक विजयपाल सम्भवतः विश्वामित्र गोत्रीय गुहिलवंशीय राजा विजयपाल से भिन्न है जिसने 'काई' नामक वीर योद्धा को पराजित किया था। इस राजा के प्रयौत्र विजय सिंह का एक हिंदी शिलालेख दमोह (म० प्र०) में प्राप्त हुआ है। इस रचना में रचनाकार ने राजा विजयपाल सिंह और बंगराजा के बीच हुए युद्धों को सजीव रूप में चित्रित किया है। इसका रचनाकाल सन् 1298 ई० है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी नाम की दूसरी कृति का उल्लेख भी किया है जिसके रचनाकार मल्लदेव है। शिल्प विधान की दष्टि से य ह आदिकाल के बाद की रचना ठहरती है।

रासो साहित्य की प्रवत्तियाँ

रासो साहित्य की सामान्य प्रवत्तियाँ निम्नलिखित हैं–

1. **वस्तुपरक तथा कथ्यपरक प्रवत्तियाँ**

(i) **वस्तु कथ्य में अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन की अधिकता**: समकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाता राजा को श्रेष्ठ वीर, पराक्रमी, सम्राट, दानवीर, दढ़ प्रतिज्ञा, शरणागत रक्षक और अनुपम सौन्दर्यशाली सिद्ध कर उसका अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन किया है। राजाओं का चरित्रांकन करना ही उस काल के रचनाकारों का मुख्य मकसद रहा था। रचनाकार दिन–रात शूर–वीर राजाओं के साथ रहता था। युद्ध के समय भी वह राजा का साथ नहीं छोड़ता था। वह युद्ध के समय सेना का नेतत्व करता था और अपनी ओजस्वी कविताओं से सम्पूर्ण वातावरण और परिवेश को वीरोचित भावना से आपूरित करता था। इस उत्साह, संघर्ष और युद्ध के बीच भी वह राजाओं के यशोगान को बढ़ा चढ़ाकर वर्णित करना नहीं भूलता था।

"चढ़ि तुरंग चहुआन, आन फेरीति पर द्धर।
तास युद्ध मंडयौ, जास जानयौ सबर वर"।

2. **सामंती समाज तथा उसमें निहित संस्कृति का चित्रण**: चारण साहित्य प्रमुखतः सामन्तों का साहित्य है। इस साहित्य में सामंती सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के जिन सन्दर्भो का वर्णन किया गया है, वे अतिश्योक्तिपूर्ण अवश्य है पर उसमें यथार्थता भी है जिसे नकारा नहीं जा सकता। सामंतों की उपभोक्ता संस्कृति के अनेक चित्र इसमें सरलता से खोजे जा सकते हैं। विलासिता की प्रत्येक वस्तु के प्रति उनका गहरा लगाव है। कंचन और कामिनी के प्रति जितने वे जागरूक है उतने निम्न और निम्न मध्यवर्ग के प्रति नहीं। सामाजिक कुरीतियों के अन्तर्गत बहु–विवाह, अनमेल–विवाह, गन्धर्वविवाह, सतीप्रथा जैसे अनेक रीति–रिवाजों का प्रचलन था। 'पथ्वीराज रासो' में इन सामाजिक कुरीतियों का सविस्तार वर्णन मिलता है। उस काल में धर्म के नाम पर हिन्दू–मुसलमानों मे आए दिन युद्ध होता रहता था।

"दोउ दीन दीनं कढी बंकि अस्सीं।
किधौं मेघ में बीज कोहिन्नि कस्सीं।।
किये सिप्परं कोर ता सेल अग्गी।
किधौं बद्दर कोर नागिन्न नग्गी"।।

3. **युद्धों का जीवन्त वर्णन सामान्य जन-जीवन नगण्य**: चारण काल की रचनाओं में सामंती परिवेश ओर जीवन को विभिन्न स्तरों के माध्यम से चित्रित किया है। इसमें सामान्य जन–जीवन का वर्णन नगण्य रहा है। दरबारी रचनाकारों से इस प्रकार की अपेक्षा करना

गलत होगा कि वे सामान्य जन–जीवन की व्याख्या करे। उस समय के रचनाकार अपने आश्रयदाताओं को युद्ध के लिए प्रेरित करने वाली कविताओं का सजन किया करते थे। यथाः

"बज्जिय घोर निसानं रान चौहान चहूँ दिसि।
सकल सूर सामंत समर बल जंत्र मंत्र तिसी"।।
उठ्ठि राज प्रथिराज वाग लग्ग मनहु वीर नट।
कढ़त तेग मन बेगं लगत मनहु बीजु घट्ट"।।

4. **अर्द्धप्रामाणिक रचनाओं की अधिकताः** चारण साहित्य के अन्तर्गत आने वाली अधिकांशतः रचनाएँ अर्द्धप्रामाणिकता के झूले पर झूल रही हैं। 'पथ्वीराज रासो' प्रामाणिकता के अभाव में पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं पा सकी। 'खुमाण रासो' (आल्हाखण्ड) की जो प्रति उपलब्ध है उसका रूप बदला हुआ है। विषयवस्तु और शिल्प की दष्टि से इन रचनाओं के संबंध में कहा जा सकता है कि इनमें कई शताब्दियों तक परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं जिसके कारण इनका मूल रूप खत्म–सा हो गया है।

5. **प्रकृति के बहुआयामी स्वरूप की चर्चाः** चारण साहित्य में प्रकृति के भिन्न–भिन्न स्वरूपों की चर्चा की गई है। उनमें प्रमुख ये हैं– आलम्बन, उद्दीपन, परिगणन, आलंकारिक, मानवीकरण आदि। प्रकृति को जहाँ आलम्बन और परिगणन रूप में प्रस्तुत किया गया है वहाँ यथार्थता की प्रधानता है, शेष प्रकृति–प्रसंगों में काल्पनिकता की अधिकता है। इनमें ऋतुओं के जो चित्र उकेरे गए है उनमें अवान्तर रूप से कहीं पुरूष ओर कहीं स्त्री–विरह ही माध्यम बने हुए हैं। भावप्रवणता और प्राकृतिक सौन्दर्य के स्तर पर प्रकृति का उद्दीपन रूप अनुपम है। बसंत ऋतु का चित्रण करते हुए कवि चन्दवरदाई लिखते हैं–

"मवरि अंब फुल्लिंग, कदंब रयनी दिघ दींस।
भंवर भाव भुल्ले, भ्रमंत मकरंदव सींस।
बहत बात उज्जलति, मोर अति विरह अगति किय।
कुलकहंत कल कंठ, पत्र राषस रति अग्गिय"।

भावपरक प्रवत्तियाँ

1. **वीर तथा शंगार रस वर्णन** : तत्कालीन साहित्य में दो प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं प्रबन्धा काव्य और मुक्तक काव्य। दोनों ही प्रकार की रचनाओं में शृंगार या वीर रस की उद्‌भावना अवश्य देखी जा सकती है। प्रबन्ध काव्यों में एक साथ दोनों रसो का चित्रण मिलता है। चारणों ने अपनी रचनाओं में एक ओर युद्धों के वर्णन में वीरता और पराक्रम की अद्‌भुत सष्टि की है तो दूसरी ओर रूप–सौन्दर्य, वस्तु–सौन्दर्य और प्रेम से परिपूर्ण सरस चित्र भी उतारे हैं। नारी दोनों रसों के केन्द्र में हैं। नारी प्राप्ति के लिए ही युद्ध होता है और उसकी प्राप्ति के बाद वातावरण विलासपूर्ण हो जाता है। 'पथ्वीरास रासो' एक ऐसा अनूठा ग्रंथ है जिसमें वीर और शंगार रसों की नियोजना के लिए ही अन्य रसों को भी समाहित किया गया है। शंगार रस का उदाहरण दर्शनीय है–

"चंद बदन चष कमल, भौंह जनु भ्रमर गंधरत।
कीर नास बिबोष्ठ, दसन दामिनी दमक्कत।
भुज प्रनाल कुच कोक, सिंह लंकी गति वारून।
कनक कंति दुति देह, जंघ कदली दल आसन"।

इन रचनाकारों की रचनाओं का प्रमुख सरोकार सामंतों के विलासपूर्ण जीवन तथा उनकी वीरता और पराक्रम को वर्णित करना था।

2. **विरहानुभूति वर्णनः** इस काल के सामंतों की यह विशेषता थी कि वे एक साथ कई नारियों से प्रेम करते थे। उनके जीवन में नई नारियों का क्रम लगातार चलता रहता था। नई नारियों के आ जाने पर पुरानी नारियों के प्रति सामंतों की प्रीत कमजोर पड़ जाती थी। जिससे वे निरंतर दुःखी रहती थीं। कभी–कभी विरहानुभूति का कारण प्रवास भी हुआ करता था। 'बीसलदेव रासो' एक विरह प्रधान काव्य है जिसमें मान और प्रवास से ही विरह का प्रारम्भ दिखाया गया है। इस काल में नारी की कोई सामाजिक स्थिति नहीं थी। वह मात्र विलासिता की वस्तु थी। उसका समाज में कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। 'पथ्वीराज रासो' में संयोगिता के विरह–वर्णन का दश्य अनूठा रहा है–

"बढ़ि वियोग बहुबाल, चंद विय पूरन मान।
बढ़ि वियोग बहुबाल, वद्ध जोवन सम मानं।
बढ़ि वियोग बहुबाल, दीन पावस रिति बढ्ढै।
बढ़ि वियोग बहुबाल, जज्जि कुल बधु दिन चढ्ढै"।

उस बाला का वियोग ऐसे बढ़ा जैसे द्वितीया का चन्द्रमा दिन प्रतिदिन बढ़ कर पूर्णिमा तक विकसित होता है या जैसे यौवन वद्धावस्था की ओर बढ़ने लगता है या जैसे पावस की रात बढ़ती है या दिन चढ़ने पर कुलवधू की लज्जा।

शिल्पगत प्रवत्तियाँ

1. **रासो काव्य ग्रन्थों का सर्जनः** सामंतों के आश्रय में रहकर चारणों ने जिन काव्य ग्रन्थों की रचना की है। उन ग्रंथों के नाम के साथ 'रासो' शब्द जुड़ा हुआ है। इस रासो शब्द के सन्दर्भ में अनके विचार प्रचलित हो चुके हैं। अनेक विद्वानों ने इस शब्द की व्युत्पति राजसूय (गार्सा द तासी), रासा (डा० हरप्रसाद शास्त्री), रासक (प० चन्द्रबली पाण्डेय) और रसिया शब्दों आदि से मानते है। जो नवीनतम खोजों के आलोक मे समीचीन नहीं है। प० मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या के अनुसार–"रासो शब्द संस्कृत के 'रास अथवा रासक' से बना है और संस्कृत भाषा में 'रास' के 'शब्द, ध्वनि, क्रीडा, श्रंखला, विलास, गर्जन, नत्य और कोलाहल आदि के अर्थ और रासक के काव्य अथवा दश्य काव्यादि के अर्थ प्रसिद्ध हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'रासो' शब्द का मूल रूप 'रासक' को माना है। 'रासक' एक छंद भी है और काव्य रूप भी।

2. **काव्य रूपः** चारण साहित्य में सांमतों के चरित्रों को उद्घाटित करने के लिए जिस अतिरंजनापूर्ण शैली को अपनाया गया था, वे प्रबन्ध काव्य के अधिक निकट थी। वीर और पराक्रम के साहसपूर्ण कारनामों और साहसिक कार्यो को मुक्तक काव्य की अपेक्षा प्रबंध काव्य में सफलतापूर्वक वर्णित करने की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं। इसलिए इन चरितप्रधान काव्यों में प्रबंधात्मक शैली को ग्रहण किया गया।

3. **अलंकार विधानः** अलंकारों के प्रयोग से काव्यवस्तु की शोभा बढ़ जाती है। चारणों की कविता में अलंकारों का प्रयोग इसी आशय से किया गया है। अलंकार यहाँ अंग न होकर अंगी है। शब्दालंकार के रूप में इन काव्यों में अनुप्रास, यमक, श्लेष, और वक्रोक्ति के अच्छे प्रयोग दिखलाई पड़ जाते हैं। यमक अलंकार का उदाहरण दष्टव्य है–

"अंग सुलच्छिन हेम तन, नग धरि सुदरि सीस।
गौरी ग्रहि गोरी गयो, बिना जुद्ध बुझि रीस" ।।

इन रासो ग्रंथों मे अर्थालंकार के सफल प्रयोग भी किए गए हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, दीपक, भ्रम, अतिश्योक्ति, प्रतीप दष्टान्त जैसे अनेक अलंकारों का प्रयोग काव्य–परम्परा को ध्यान में रखकर किया गया है। प्रचलित उपनामों के साथ कुछ नवीन उपनामों के प्रयोग से वस्तु, भाव और शिल्प में रोचकता और प्रभाव बढ़ा है। वे नवीन उपनाम अपनी अर्थ सुलभता और लोक–प्रसिद्धि के कारण अर्थ–गौरव में भी निःसंदेह वद्धि कर सके हैं। यथा–

"जनु छैलनि कुलटा मिलै। बहुत दिवस रस षंक।।

सांगरूपकों के प्रयोग से चारणों ने पुरातन कथासूत्रों, प्राकृतिक सौन्दर्य और मौलिक उद्भावनाओं को साकार रूप दिया है–

"बाल नाल सरिता उतंग। आनंग अंग सुज।।
रूप सु तट मोहन तड़ाग। भ्रम भए कटाच्छ दुज"।।

(i) **छंद विधान**: रासो साहित्य में छंदों के विविधि प्रयोग मिलते हैं जिनमें कुछ ऐसे हैं जिनके रूप का पता नहीं है। छंदों के प्रयोग से रचनाकार की प्रतिभा और दूरदर्शिता का पता चलता है। मात्रा और वत्त से संबंधित इन छंदों का प्रयोग रासो में अधिक हुआ है। यथा– आर्मा, दूहा, पद्धरी, चौपाई, रासा, रोला, सोरठा, करषा, साटक, छप्पय, आदि। 'पथ्वीराज रासो' में अडसठ छंदों का प्रयोग मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में रचनाकारों को छंदों का विशिष्ट ज्ञान था। छंदों के सर्वाधिक प्रयोग के कारण ही तो 'चन्दवरदाई' को 'छप्पय का राजा' कहा गया है।

(ii) **शिल्प विधान**: शिल्प एक गतिशील प्रक्रिया है जो रचना की सजनात्मकता क ो सार्थक बनाती है। शिल्प का रचाव बहुत कुछ भाषा के रचाव पर निर्भर करता हैं। भाषा की एक विशेष संरचना होती है। रचनाकार लोक–जीवन से उन सार्थक शब्दों को चुनता है जो उनके वस्तुलोक और भाव लोक को समद्ध करते हैं। रचना की सम्प्रेषणीयता के आधार यही शब्द हैं। चारणों ने रचना को स्तर पर जिन भाषाओं को प्रयोग किया है वे डिंगल और पिंगल भाषाएँ हैं, ये भाषाएँ लोकजीवन से जुड़ी हुई भाषाएँ है। लोक से जुड़े हुए शब्दों लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा सजीव और जीवंत हो गई है। शैली का जुडाव रचनावस्तु से होता है। रचनावस्तु को प्रभावी बनाने के लिए वह जिस प्रणाली को अपनाता है उसे ही 'शैली' कहते हैं। चारण साहित्य का अपना एक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक महत्त्व हैं। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यह साहित्य उन सामंतों के शोषण–कर्म को उजागर करता है जिसका संबंध जर, जोरू और जमीन से था। उनके द्वारा जो भी युद्ध किए जाते रहे उनका संबंध केवल उन्हीं से था। सामान्य जनता से इसका दूर तक नाता नहीं था। युद्ध की जीत रूप में हस्तगत नारी केवल सामंतों की भोग्या बन कर रह गई थी। सामान्य जनता के हित–चिन्तन जैसे सरोकारों से उसका कोई संबंध नहीं था। राजनीति के नाम पर जो भी हथकण्डे अपनाए जाते थे उससे मात्र सामंतों का हित–चिन्तन होता था। युद्ध इस काल में सामंतों की प्रसिद्धि और गौरव का कारण बने हुए थे। मानव समाज और सर्वहारा वर्ग के बारे में सोचने के लिए उनके पास अवकाश नहीं था। युद्ध जाति विशेष का पेशा बन गया था। इन सामंतों के दो ही कर्म प्रमुख थे– युद्ध करना और युद्ध से प्राप्त वस्तुओं का उपभोग करना। नारियों को भोग्या वस्तु बनाकर इन सामंतों ने अपने सामाजिक स्तर को और भी गिरा दिया था। बाहरी आक्रमणों ने देश, जाति और समाज की स्थिति को अवन्ति के कगार पर पहुँचा दिया। जातीय अस्मिता आये दिन खतरे में पड़ती थी, क्योंकि सामंतों ने जिस उपभोक्ता (सामंती) संस्कृति को विकसित किया था उससे समूची जनता अलग थी। निरतंर

युद्ध की अनुगूँज से देश और जाति की सांस्कृतिक विकास की गति थम–सी गई थी। सांस्कृतिक विरासत के रख रखाव की चाह सामंतों में न थी। युद्ध और विलासिता ही उनके जीवन का मुख्य सरोकार बन गया था। साहित्यिक संरक्षण के रूप में उन्होंने जिन चारण रचनाओं को प्रश्रय दे रखा था उनका कार्य युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना–योजना का आविष्कार था। उन्होंने सामान्य जनता को रचना में स्थान नहीं दिया। सामंत ही उनके लिए सब कुछ थे। सामंतों के चरित्रांकन में ही रचनाकारों की सारी सजनात्मक की ताकत लगी हुई थी। सामाजिक और सांस्कृतिक कर्म के विविध पहलुओं की ओर उनकी दष्टि नहीं जा सकी। केवल सामंतों का गुणगान करना ही उस काल के रचनाकारों का मुख्य प्रतिपाद था।

7. आदिकालीन कविता की प्रवत्तियाँ

आदिकालीन हिंदी कविता की प्रवत्तियों का अध्ययन करने की सुविधा को ध्यान में रखते हुए इसे चार भागों मे विभाजित किया जा सकता है।

1. विचारात्मक प्रवत्तियाँ
2. वस्तुपरक प्रवत्तियाँ
3. भावात्मक प्रवत्तियाँ
4. शिल्पनात्मक प्रवत्तियाँ

7.1 विचारात्मक प्रवत्तियाँ

(क) **आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्रह्म का निर्गुण और सगुण रूपः** आध्यात्मिक क्षेत्र को परिपूरित करने के लिए इस काल के रचनाकारों ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप को मान्यता प्रदान की है। सिद्धों और नाथों तथा जैनियों ने ब्राह्मण धर्म के विरोध में सगुण ब्रह्म के स्थान पर निर्गुण ब्रह्म को अपनाने का आग्रह किया है।

सिद्धों ने तंत्र और मंत्र को अपनाने का आग्रह किया है वही नाथों ने योग को महत्ता प्रदान की है। नाथों का योग सामान्य स्तर का नहीं है। चारण कवि चन्दवरदाई और श्रीकृष्ण के उपासक विद्यापति ने सगुण ब्रह्म की साधना के लिए भक्ति को अपनाने का आग्रह किया है। विद्यापति ने उमा–शिव को स्तुतिपरक पदों में पूजा है। शेष पदों में उन्होंने श्री कृष्ण को आराध्य माना है।

(ख) **धार्मिक भावनाः** सिद्धों ने रूढ़ियों, पाखण्डों, मिथ्याचारों का खुलकर विरोध किया है। नाथों ने कायासाधना को महत्त्व दिया और इन चीजों एवं कार्यो का विरोध किया क्योंकि इनसे साधना में एकाग्रता नहीं आती, एकाग्रता आती है योग साधना के द्वारा। चारण कवियों, जैन कवियों और विद्यापति ने भी इन ब्राह्य आडम्बरों का विरोध किया और ध र्म को लोक से और मानव से जोड़ने का सराहनीय कार्य किया।

(ग) **साहित्यिक क्षेत्रः** सिद्धों की रचनाओं एवं ग्रन्थों में प्रतीकों और उलटबासियों के माध्यम से रहस्यवाद उद्घाटित हुआ है। वह संसार की व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं हो सकता। आत्मा और परमात्मा के मिलन की अभिव्यक्ति जहाँ सिद्धों ने प्रतीकों से की है, वहीं नाथो ने पारिभाषिक शब्दावलियों से। सिद्धों ने उलटबासियों का भी प्रयोग किया है।

7.2 वस्तुपरक प्रवत्तियाँ

(क) **सामंतवादी स्थिति का आंकलनः** सिद्धों नाथों ने सामंतवादी समाज और संस्कृति का आंकलन करते हुए अपने मत प्रस्तुत कर दिये हैं। उनका समाज से कुछ लेना–देना नहीं था। वे पहुँचे हुए साधक थे। जैन और चारण कवियों ने राजाओं के आश्रय में रहकर उनके समाज और संस्कृति को खुली आँखों से देखा था और उसे कविता में ढाला भी था। इस वर्णन में सच्चाई का बखान अधिक था और काल्पनिकता कम।

(ख) **युद्धों का वर्णनः** सिद्धों नाथों ने न तो युद्धो को महत्त्व दिया है और न सामान्य जनजीवन को। इस कार्य में केवल चारण रचनाकार ही निपुण थे।

(ग) **नारी के प्रति दष्टिकोण** : सिद्ध कवियों ने पहले तो नारियों की घुसपैठ का विरोध किया लेकिन बाद में तांत्रिक साधना के तहत इनको भी स्थान देना प्रारम्भ कर दिया। बाद में नैतिक बंधन इतने ढीले हो गये थे कि व्यभिचारपरक बातों का खुलासा होता चला गया।

(घ) **प्रकृति का वर्णनः** सिद्धों, नाथों ने प्रकृति को साधना का अंग नहीं बनने दिया। उन्होंने प्रकृति का प्रयोग कहीं–कहीं प्रतीक रूप में अवश्य किया है। जैन कवियों ने प्रकृति को नारी का प्रतीक माना है जो साधना में विध्न पैदा करती है।

7.3 भावात्मक प्रवत्तियाँ

(क) **विरह की अनुभूतिः** सिद्धों और नाथों ने साधना के स्तर पर विरह को महत्त्वपूर्ण माना है। आत्मा परमात्मा से अलग होकर जो दुःख की अनुभूति करती है उसे ही विरह कहा है। यह विरह आध्यात्मिक साधना का अंग बनकर इन रचनाओं में व्यक्त हुआ है। जैन कवियों की आध्यात्मिक रचनाओं में भी विरह का यही रूप मिलता है।

(ख) **नारी रूप चित्रणः** सिद्ध साहित्यकारों ने अन्त में भिक्षुणियों को प्रवेश दिलाकर नारी की उपस्थिति को दर्ज करा दिया है। इन नारियों के आगमन से भोग को स्थान मिला जिससे उसमें विकृतियाँ आ गयी। इन विकृतियों के कारण ही इस साहित्य का विकास अवरूद्ध हो गया। नाथों ने नाटियों से अपने–आप को दूर रखा। जैन कवियों ने साधना के क्षेत्र मे साध्वियों के रूप में नारियों को प्रवेश दिलाकर उसे पथ भ्रष्ट कर दिया। स्त्री के विभिन्न अंगों के स्पष्टीकरण के लिए इन कवियों ने प्राकृतिक उपमानों का भरपूर तरीके से उपयोग किया है। चारण कवियों की रचनाओं में नारीत्व चित्रण की प्रधानता देखी जा सकती है।

(ग) **नायिका-भेद वर्णनः** नायिका–भेद का मिश्रण रास ग्रंथों और मैथिली काव्य की एक विशेषता है। रास–ग्रंथों में जिन नायिकाओं को स्थान मिला है वे गहस्थिक रूप में है। इन्हें ही शास्त्रीय परिपेक्ष्य मे स्वकीया, नायिका कहा गया है। परकीया नायिका को विद्यापति ने विशेष महत्त्व प्रदान किया है।

7.4 शिल्पनात्मक प्रवत्तियाँ

(क) **भाषिक प्रयोगः** शिल्प एक प्रक्रिया है वह भी गतिशील जो कि रचना की सजनात्मकता को सार्थकता प्रदान करती हैं। शिल्प का प्रयोग बहुत कुछ भाषा के रचाव पर निर्भर करता है। रचनाकार शिल्प को मध्य नजर रखकर लोक जीवन से उन सार्थक शब्दों का चुनाव करता है जो उनके वस्तुलोक और भावलोक को समद्ध करते हैं। सिद्धो, नाथों, जैन कवियों, चारण कवियों आदि ने शब्दों का गठंन इसी स्तर पर किया है।

(ख) **छंद-प्रयोग**: सिद्धों की रचनाओं में सजित चर्चागीत गेय पदों के रूप में प्रकट होते हैं। प्रत्येक चर्चागीत के प्रारम्भ में किसी न किसी राग का उल्लेख मिलता है। इन चर्चागीतों में माश्रिक छंदों का प्रयोग किया गया है।

(ग) **अलंकार-प्रयोग**: सिद्धों की रचनाओं में अन्त्यानुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग देखने में आता है। नाथ साहित्य में इन अलंकारों के अतिरिक्त श्लेष, वक्रोक्ति, प्रतीक, अपहनुति और उभयालंकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। मैथिली साहित्य में शब्दालंकार के साथ अर्थालंकार का प्रयोग भी मिलता है। आदिकालीन काव्यगत प्रवत्तियों का आंकलन इस प्रकार किया जा सकता है–

संदिग्ध प्रामाणिकता

भाषा शैली और विषय सामग्री की दष्टि से इस काल की रचनाओं के संबंध में कहा जा सकता है कि इसमें निरन्तर कई शताब्दियों तक परिवर्तन होता रहा है। परिवर्तन का यह कार्य इतनी अधिक मात्रा में हुआ है कि इनका मूल रूप भी दब गया है। खुमान रासो में सोलहवीं शती की सामग्री का समावेश कर लिया गया है। पथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता आज तक भी संदिग्ध है। इसी प्रकार बीसलदेव रासो, दरमाल रासो आदि की प्रामाणिकता भी संदेह के घेरे में है।

ऐतिहासिकता का अभाव

इन रचनाओं में इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों को लिया गया है, किन्तु उनका वर्णन शुद्ध इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। डा० रामकुमार वर्मा का मानना है कि–"यद्यपि ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण भी उसमें प्राप्त होता है, पर उनका विस्तार और वर्णन कल्पना के सहारे ही किया जाता था, तिथि पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था।"

युद्धों का सजीव चित्रण

आदिकालीन कवि अपने आश्रयदाताओं के साथ युद्ध क्षेत्र में जाते और युद्ध करते थे। इसलिए इनके द्वारा वर्णित युद्ध–अत्यन्त सजीव, मार्मिक और यथार्थ बन पड़े हैं।

आश्रयदाताओं की अतिश्योक्तिपूर्ण प्रशंसा

इस काल में अधिकांश साहित्य की रचना राज्याश्रित कवियों के द्वारा हुई है। कवियों ने अपने आश्रयदाता को ही सर्वश्रेष्ठ वीर, पराक्रमी सम्राट, अनुपम दानवीर, दढ़प्रतिज्ञ सिद्ध कर उनका अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन किया है। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार, "कवि का आदर्श अधिकतर अपने चरित–नायक के गुण वर्णन तक ही सीमित रहता था।"

संकुचित राष्ट्रीयता

अपने आश्रयदाता को ही सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ मानने और घोषित करने के कारण ही इन कवियों की राष्ट्रीय भावना केवल अपने आश्रयदाता के छोटे–छोटे राज्यों की सीमाओं तक ही सिमटकर रह गयी थी। वीरता का आदर्श रूप निम्न पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है–

बारह बरिस लौं कूकर जीयें, और तेरह लौं जिए सियार।
बरिस अठारह छत्री जीयें, आगे जीवन कौ धिक्कार।।

जन-जीवन की उपेक्षा

इन ग्रंथों में सामंती जीवन उभर आया है। कवि अपने आश्रयदाताओं की वीरता और रसिक–वत्ति तक ही सीमित रहे हैं, इसलिए इनमें तत्कालीन जन–जीवन उपेक्षित रहा है।

काव्य के रूप

आदिकालीन रचनाएँ प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में मिलती है। प्रथम वर्ग का सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ है 'पथ्वीराज रासो' और दूसरा ग्रंथ 'बीसलदेव रासो'। आदिकाल में हमें वीर गीत और वीर–प्रबन्ध काव्य दोनों प्रकार के ग्रंथ मिलते हैं।

वीर और श्ंगार रस का समन्वय

आदिकालीन साहित्य में प्रायः वीर और श्ंगार रस का सुन्दर स ामंजस्य है। उस समय स्त्रियाँ ही प्रायः पारस्परिक वैमनस्य का कारण हुआ करती थी। इसलिए वीर गाथाओं में उनके रूप का वर्णन करना, कवियों को अभिष्ट था। युद्ध के समय ही नहीं, शांति के समय भी वीरों के विलास–प्रदर्शन में श्ंगार का आकर्षण चित्रित किया गया है।

भाषाओं के विविध रूप

आदिकालीन रचनाओं के दो रूप ही प्रधान मिलते हैं– अपभ्रंश और अपभ्रंश प्रभावित पिंगल अतिरिक्त युद्ध वर्णनों में एक ऐसी भाषा के दर्शन होते हैं जिसे विद्वानों ने 'डिंगल' कहा है। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है, ' यह वीर रस के लिए बहुत उपयुक्त थी, इसलिए इसका प्रयोग इस काल में बड़ी सफलता के साथ हुआ।'

छंदों का बहुमुखी प्रयोग

छंदों का जितना बहुमुखी प्रयोग इस साहित्य में हुआ है, उतना इसके पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं हुआ। दोहा, तोटक, तोमर, गाथा, गाहा, आर्या सट्टक, उल्लाला और कुंडलियाँ आदि छंदों का प्रयोग बड़ी कलात्मकता के साथ किया गया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी, के अनुसार 'रासो के छंद जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन्न उत्पन्न करते हैं।'

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आदिकालीन साहित्य अपभ्रंश साहित्य के समान्तर विकसित हुआ है। काव्य–शैलियों, काव्य रूपों आदि की विशाल परम्पराओं के अध्ययन की दष्टि से इस काल के साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

8. गद्य साहित्य

आदिकाल में काव्य रचना के साथ–साथ गद्य रचना की दिशा में भी कुछ स्फुट प्रयास लक्षित होते हैं। 'राउलबेल' (चम्पू), 'उक्ति–व्यक्ति–प्रकरण' और 'वर्णरत्नाकर' इस संदर्भ में उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

8.1 राउलबेल

रोडा कृत राउलबेल एक शिलांकित कृति है जिसका पाठ बम्बई के प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय से उपलब्ध कर प्रकाशित कराया गया है। विद्वानों ने इसका रचनाकाल दसवीं शताब्दी माना हैं। यह गद्य–पद्य मिश्रित चम्पू काव्य की प्राचीनतम हिंदी कृति है।

इसकी रचना 'राउल' नायिका के नख–शिख वर्णन के प्रसंग में हुई है। आरम्भ में कवि ने राउल के सौंदर्य का वर्णन पद्य में किया है और फिर गद्य का प्रयोग किया गया है। 'राउल बेल' से हिंदी में नख–शिख वर्णन की श्ंगार–परम्परा आरंभ होती है। कवि ने विषय–वर्णन बड़ी तन्मयता से किया हैं। नायिका राउल का श्ंगार आकर्षण से भरा हुआ है। वह सहज रूप में जितनी सुन्दर है, उतनी ही सहज–सुन्दर उसकी सज्जा भी है। इस सौन्दर्य के अनुकूल ही उसकी भावदशा है। रोडा ने उपमा, उत्प्रेक्षा, अलंकारों का प्रयोग करके रूप–वर्णन को प्रभावशाली बना दिया हैं।

इसकी भाषा में हिंदी की सात बोलियों के शब्द मिलते हैं। जिसमें राजस्थानी प्रधान है।

8.2 उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण

दामोद शर्मा इस कृति के रचियता है। वह महाराजा गोबिन्द चन्द्र के सभा पंडित थे। गोबिन्द चन्द्र का शासनकाल 1154 ई० माना गया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "उक्ति–व्यक्ति प्रकरण' एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्याकरण ग्रंथ है। इसमें बनारस और आस–पास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि का अच्छा प्रभाव पड़ता है और उस युग के काव्य रूपों के संबंध में भी थोड़ी–बहुत जानकारी होती है।

इस ग्रंथ की भाषा का एक उदाहरण इस प्रकार है–

"वैद पढब, स्मति अभ्यासिब, पुराण दंखण, धर्म करब।"

इससे गद्य और पद्य दोनों शैलियों की हिंदी भाषा में तत्सम् शब्दावली के प्रयोग की बढ़ती हुई प्रवत्ति का पता चलता है।

8.3 वर्ण रत्नाकर

इस कृति के रचनाकार ज्योतिरीश्वर ठाकुर हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार इसकी रचना चौदहवीं शताब्दी में हुई होगी।

इसकी भाषा में कवित्व, अलंकार तथा शब्दों की तत्समता की प्रवत्तियाँ मिलती है। गद्य में नायिका का वर्णन करते हुए ज्योतिरीश्वर लिखते हैं–

**"पुनु कयिसनि नायिका। कामदेवक नगर अइसन शरीर निष्कलंक
चाँद अइसन मुह। कंदल खंजीरीर अइसन लोचन।
यमुना के तरंग अइसन भुजइ।"**

इन पंक्तियों से 'वर्ण रत्नाकर' एक शब्दकोश सा प्रतीत होता है, किन्तु सौन्दर्य ग्रहिणी प्रतिभा भी साथ ही साथ स्पष्ट प्रभाव दिखा रही है। हिंदी गद्य के विकास में 'राउलवेल' के पश्चात 'वर्ण रत्नाकर' का योगदान भी कम नहीं कहा जा सकता। इन कृतियों के अतिरिक्त और भी रचनाएँ इस समय में लिखी गई होंगी, लेकिन किसी कारणवश वे उपलब्ध नहीं हो सकी। ये कृतियाँ गद्य–धारा के प्रवाह की अखंडता को कायम रख सकी हैं।

आदिकालीन साहित्य का जनजीवन जिन अनुभूतियों से प्रकट हुआ था, उनमें पर्याप्त विविधता थी। समाज की विभिन्न स्थितियों पर दष्टिपात करके सहज जीवन का मार्ग सुलझाने से लेकर हठयोग की साधना तक आदिकाल में मुक्तक काव्य रूप का जो विस्तार हुआ, निश्चय ही उसका पर्याप्त ऐतिहासिक महत्त्व है।

प्राकृत और अपभ्रंश से लेकर 'राउलबेल' तक श्ंगार की जो परम्परा आयी थी, वह भक्तिकाल को प्रभावित करती हुई रीतिकाल तक चली आयी।

इस समय में एक साथ धार्मिक मनोवत्तियों का सात्त्विक चित्रण मिलता है, श्ंगार की सहज सरसता दिखाई देती है, वीररस के दश्य भी मिलते हैं तथा ऐसे चित्र सामने आते हैं, जिनसे एक स्वतंत्र जाति के अहंकार का पूरा बिंब उसकी समस्त टूटन के साथ उभरता है।

आदिकालीन साहित्य में छंद–प्रयोग की विविधता देखी गई है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने छंद की दष्टि से कुछ सीमाएँ बनायी हैं। उन्होंने श्लोक को लोकिक संस्कृत का, गाथा को प्राकृत तथा दोहा को अपभ्रंश का मुख्य छंद स्वीकार किया है।

आदिकालीन साहित्यिक रचनाओं की विशेषताएँ

1. **युद्धों का सजीव चित्रणः** आदिकाल के हिंदी साहित्य में युद्धों का ऐसा सजीव, चित्रात्मक, एवं ध्वन्यात्मक वर्णन हुआ है कि उन रासो–ग्रंथों को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो तलवारें खडक रही हो।

2. **वीर रस तथा उत्साह की प्रधानता**: आदिकालीन साहित्य में उत्साह जन्य वीर रस की अभिव्यक्ति हुई है जैसे युद्ध के लिए प्रेरित करते हुए क्षत्रिय वीरों को इस प्रकार उत्साहित किया जाता है कि क्षत्रियों का सार्थक जीवन प्रकट हो उठता है।

3. **प्रकृति चित्रण**: प्रकृति के विभिन्न उपादानों यथा पर्वतों, नदियों, वक्षों, सरोवरों, पशु–पक्षियों, मेघ एवं बिजली आदि का चित्रण एवं वर्णन बहुत ही मार्मिक ढंग से मिलता है।

साधारण लोगों के जीवन चित्रण का अभाव भी आदिकालीन साहित्य की विशेषता है।

डिंगल तथा पिंगल भाषा की प्रधानता ही आदिकालीन साहित्य की भाषागत विशेषता है। वैसे देशी भाषा अवहट्ट तथा शौरसेनी अपभ्रंश का भी प्रयोग मिलता है।

आदिकालीन साहित्य में वीर रस की प्रधानता युद्धों के सजीव चित्रण, आश्रयदाताओं की प्रशंसा, प्रकृति चित्रण ऐतिहासिकता का अभाव, राष्ट्रीयता का अभाव, अतिश्योक्तिपूर्ण कथन, ओजगुण तथा डिंगल भाषा का प्रयोग करने की प्रवत्तियाँ देखी जा सकती हैं। यद्यपि वीरगाथा काल में साधारण लोगों का जीवन संबंधी साहित्य बहुत ही कम मिलता है परन्तु खुसरो की पहेलियाँ तथा मुकरियाँ इस अभाव की पूर्ति करने वाली हैं।

आदिकालीन साहित्य में प्रबन्धात्मक मुक्तक तथा वीर गीतों संबंधी जो ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं उनमें से जो रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं वे प्रबन्ध काव्यात्मक 'रासो' ग्रंथ ही है। 'रासो' शब्द का संबंध विभिन्न विद्वानों ने रास (आनन्द) रसायन, रहस्य तथा रासक शब्द से जोड़ा है। वास्तव में रासो का एक अन्यार्थ (रास्सा झगड़ा) जो राजस्थानी में प्रयुक्त होता है, वह भी, ग्रहणीय है। क्योंकि वास्तव में रासो ग्रंथ में वीर नायक की प्रशस्ति के अतिरिक्त युद्धों का ही वर्णन सांगोपांग हुआ है। इन ग्रंथों में एक राजा का दूसरे राजा या सामन्त से सकारण युद्ध, नखशिख वर्णन तथा प्रकृति चित्रण का सुन्दर समावेश हुआ है।

आदिकालीन साहित्य की कुछ बातें उल्लेखनीय रही हैं–

संदिग्ध रचनाएँ

आदिकाल के अधिकांश रासो–ग्रंथो की ऐतिहासिक प्रामाणिकता संदिग्ध ही है। जैसे हिंदी के प्रथम महाकाव्य 'पथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता आज तक भी संदिग्ध ही है। इसी प्रकार 'बीसलदेव रासो', 'खुमान रासो' तथा 'परमाल रासो' की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है।

ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव

आदिकालीन साहित्य में भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं, तिथियों तथा पात्रों की नामावली प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती।

संकुचित राष्ट्रीयता

आदिकालीन साहित्य में सार्वभौम राष्ट्रीयता का अभाव है क्योंकि छोटे–छोटे राजा अपने ही क्षेत्र को राष्ट्र मान बैठे थे। हिंदी के आदिकाल में साहित्यिक रचनाएँ तीन धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रही थी। प्रथम धारा संस्कृत साहित्य की थी। दूसरी धारा का साहित्य प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखा जा रहा था। तीसरी धारा हिंदी भाषा मे लिखे जाने वाले साहित्य की थी। ज्योतिष दर्शन और स्मति आदि विषयों पर टीकाएँ और टीकाओं पर भी टीकाएँ लिखी जाती थीं। नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक कन्नौज एवं कश्मीर संस्कृत साहित्य रचना के केन्द्र रहे और इसी बीच अनेक आचार्य, कवि, नाटयकार तथा गद्यकार उत्पन्न हुए। आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोजदेव, मम्मट, राजशेखर विश्वरनाथ भवभूति व जयदेव इसी युग की देने हैं। इसी समय शंकर, भास्कर, रामानुज आदि आचार्य हुए। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत एवं अपभ्रंश का श्रेष्ठ साहित्य भी प्रभूत मात्रा में इसी युग में लिखा गया। जैन आचार्यों तथा पूर्वी सीमान्त पर सिद्धों ने अपभ्रंश के साथ लोकभाषा को रचनाओं में प्रयुक्त किया। इस काल में बज्रयानी और सहजयानी सिद्धों, नाथों, जैन धर्म के अनुयायी विरक्त मुनियों एवं गहस्थ उपासकों और वीरता एवं श्रंगार का चित्रण करने वाले चारणों, भाटों आदि रचनाएँ विशेष रूप से रची गई।

9. आदि कालीन प्रतिनिधि रचनाकार

9.1 चन्दवरदाई

महाकवि चन्दवरदायी, वीरगाथा काल के प्रतिनिधि महाकवि हैं। चन्दवरदायी पथ्वीराज चौहान के सखा, दरबारी कवि तथा सामन्त थे। ये भट्ट जाति में जगात गोत्र के थे। ऐसा कहा जाता है कि इनका जन्म भी पथ्वीराज की जन्म तिथि को हुआ ओर मत्यु भी पथ्वीराज की पुण्य तिथि के साथ हुई। चन्दवरदायी का जन्म लाहौर में जबकि पथ्वीराज को अपना दत्तक पुत्र बनाकर दिल्ली का राज्य भी पथ्वीराज को सौंप दिया तो उसी समय के आस–पास चन्दवरदायी भी दिल्ली आकर पथ्वीराज के सखा तथा राजकवि बन गए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि चन्दवरदायी का समय (संवत् 1205-1149) के मध्य माना गया है।

चन्दवरदायी षडभाषा, व्याकरण, काव्य साहित्य, छन्द शास्त्र ज्योतिष, पुराण तथा नाटक आदि अनेक विधाओं में पारगंत थे। युद्ध में, आखेट में, सभा में तथा यात्रा में पथ्वीराज के साथ ही रहते थे। जब शहाबुद्दीन गोरी पथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया तो कुछ दिनों पश्चात् चन्दवरदायी भी मुहम्मद गोरी के दरबार में पहुँचा तथा दिल्ली से जाते हुए अपने महाकाव्य को अपने पुत्र जल्हण के हाथ सौंप गया। कहते हैं चन्दवरदायी ने पथ्वीराज के साथ मिलकर शब्दभेदी बाण की कला में निपुण पथ्वीराज द्वारा गोरी को मरवाने की सफल योजना बनाई।

वीरगाथाकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि चन्द दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट, पथ्वीराज के राजसामन्त और राजकवि थे। उनके जन्म के विषय में कहा जाता है कि 'रासो' के आधार पर उनका जन्म संवत् 1205 ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम बैण अथवा राववेणु था। चन्द षट्भाषाओं, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्दशास्त्र, ज्योतिष, पुराण आदि अनेक विषयों के ज्ञाता थे। चन्द के पुत्रों में जल्हण सबसे योग्य था और इसी ने अधूरे रासो को चन्द की मत्यु के पश्चात् पूरा किया था। ऐसी जनश्रुति प्रचलित है। 'रासो' में चन्द ने अपने आश्रयदाता और मित्र राजा पथ्वीराज का यशोगान किया है। 'रासो' चन्दवरदाई का अमर काव्य है।

9.2 अमीर खुसरो

अमीर खुसरो भारतवर्ष के बहुत बड़े प्रतिष्ठित कवि रहे हैं। सौन्दर्य, संस्कृति, प्रकृति, हास्य–व्यंग्य आदि विषयों को अपनी अनुभूति के केन्द्र में रखकर उन्होंने भारतवर्ष को कालजयी और उजासमयी रचनाएँ प्रदान की हैं। अमीर खुसरो अनूठी प्रतिभा के अनूठे साहित्य–साधक थे। उनका जन्म 1250 ई० एटा (उत्तर प्रदेश) जिले के पटियाली नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम सैफुद्दीन महमूद था। बाल्यावस्था में ही अमीर खुसरो के पिता का किसी लड़ाई में निधन हो गया था। इसके पश्चात उन्हें अपने नाना के यहाँ आश्रय ग्रहण करना पड़ा। खुसरो के नाना का घर भारतीय सभ्यता और भारतीय संस्कृति का केन्द्र था। वहीं पर उन्होंने हिंदी के साथ, संस्कृत, फारसी, तुर्की, अरबी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में कुशलता दक्षता प्राप्त की। 18 वर्ष की कम आयु में ही खुसरो दिल्ली के साहित्यिक गलियारों में चर्चित हो गए।

अमीर खुसरो कई सुल्तानों के आश्रय में रहे। पहला आश्रय उन्हें मलिक छज्जू जो उनका भतीजा था, का मिला। इस आश्रय स्थल पर खुसरो दो वर्ष तक रहे। इसके बाद वे बादशाह बलबन के छोटे पुत्र बुगराखाँ के दरबार में तीन साल तक रहे। तत्पश्चात् खुसरो बलबन के बड़े लड़के सुल्तान हाकिम के दरबार मुलताना में लगभग पाँच वर्ष तक रहे। इसके अतिरिक्त खुसरो सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी, सुल्तान कुतुबुद्दीन, सुल्तान मलिक तुगलक, मुहम्मद तुगलक आदि के दरबार में रहे। दरबारों में रहकर उन्होंने अनेक प्रकार के जीवनानुभवों को प्राप्त किया।

प्रख्यात सूफी संत हजरत निजामुद्दीन औलिया अमीर खुसरो के गुरू थे। 1325 ई० में उनका निधन हो गया था। गुरू निधन से अमीर खुसरो पागल से हो जाते हैं और अपना सर्वस्व लुटाकर गुरू की

समाधि–सेवा में लीन हो जाते हैं। हजरत निजामुद्दीन की मत्यु के थोड़े समय पश्चात ही उनका भी निधन हो जाता है। अमीर खुसरो की समाधि हज़रत निज़ामुद्दीन के पैताने बनी हुई है, जो सभी जाति और सभी धर्म के लोगों के लिए पूजनीय है। अमीर खुसरो को अपनी मातभाषा पर गर्व था। उन्हें हिन्दुस्तानी होने का भी गर्व था। उन्होंने स्वीकार किया कि वे हिंदी को पानी के सहज प्रवाह के समान बोल सकते है–'तुर्क–ए–हिन्दुस्तानयम मन हिन्दवी गोयम चू आब'–उन्होंने हिन्दी को तुर्की और फारसी से भी श्रेष्ठ माना है। यथा–

"इस्बात मुफ्त व हुज्जत कि राजेहू अस्त।
बर पारसी व तुर्की अज़ अल्फाज़े खुशग़वार।।

अमीर खुसरो प्रतिभावान विद्वान थे उन्हें लोकशास्त्र ओर लोकसाहित्य का भी सम्यक ज्ञान था। इसीलिए वे अरबी, फारसी, तुर्की, हिंदी में पर्याप्त रचनाएँ रचने में समर्थ हो सके। विद्वानों ने अमीर खुसरो की रचनाओं की संख्या 199 बताई है, किन्तु प्राप्त रचनाओं की संख्या 28 के लगभग रही है। खुसरो की प्रसिद्ध फारसी रचनाओं का ब्योरा इस प्रकार है–वस्तुल हयात, गुर्रतुल कमाल, निहायतुल कमाल, वकीयः नकीयः, किरानुस्सादैन, ताजुल–मुफ्तूह, नुह सिप्हर, खम्स–ए–खुसरो, खिज्रनामा, तारीख–ए–अलाई, तुगलकनामा आदि।

अमीर खुसरो फारसी के सिद्ध कवि थे, लेकिन उन्होंने हिंदी में भी पर्याप्त रचनाए रची है। उनकी रचनाओं की संख्या निश्चित नहीं कही जा सकती है। उन्होंने हिंदी की वकालत करते हुए अपने ग्रंथ 'गुर्रतुलकमाल' की भूमिका में लिखा है–

"चूं मन तूती-ए-हिन्दम अर रासत पुर्सी
ज़मन हिन्दवी पुर्स ता नग्ज़ गोयम।

अर्थात सही समझों तो मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ। यदि तुम मुझसे मीठी बातें करना चाहते हो तो हिन्दवी में बात करो। अमीर खुसरो की हिंदी में कोई प्रामाणिक रचना नहीं मिलती है। इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने हिंदी में रचनाएँ ही नहीं की है। डा० भोलानाथ तिवारी ने खुसरो की प्राप्त हिन्दी कविताओं को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है। (i) पहेलियाँ, (ii) मुकरियाँ, (iii) निस्बतें, (iv) दो सखुन, (क) हिंदी (ख) फारसी और हिंदी (v) ढकोसले, (vi) गीत, (vii) कव्वाली, (viii) फारसी–हिंदी मिश्रित छंद, (ix) सूफी दोहे, (x) ग़ज़ल, (xi) फुटकल छंद, (xii) खालिकबारी। अमीर खुसरो की जनसामान्य में अतिशय प्रतिष्ठा का कारण उनकी पहेलियाँ, मुकरियाँ, निस्बतें दो सखुन आदि हैं। ये लोक जीवन से ही केवल सम्बद्ध नहीं है, वरन् लोकजिह्म पर भी विद्यमान हैं। पहेलियां बौद्धिक व्यायाम से सम्बद्ध होती हैं, मुकरियाँ, 'मुकरने' के भाव से जुडी है और निस्बतें शब्दक्रीड़ा से युक्त हैं।

पहेली– (बूझ पहेली)

बीसो का सिर काट लिया।
न मारा न खून किया।

मुकरी–

सगरी रैन मोरे सँग जागा।
भोर भयी तो बिछुड़न लागा।
बाके बिछुडे फाटत हिया।
ऐ सखि साजन, न सखि दिया।

अमीर खुसरो प्रेम और सौन्दर्य के विशिष्ट रचनाकार हैं। उनकी प्रेम–चेतना और सौन्दर्य–भावना में भारत के अध्यात्म जगत को देखा जा सकता है। अमीर खुसरो की अध्यात्म चेतना लोक चेतना से

भरपूर अभिषिक्त हैं इसमें प्रकृति का, रहस्य का, जीवन का, समाज का सच्चा प्रतिरूप दष्टिगोचर होता है। अमीर खुसरो द्वारा रचित बाबुल का गीत उनकी सौंदर्य और राग की समग्र अनुभूति को उजागर करता है, यथा–

काहे को बियाहे बिदेस, सुन बाबुल मोरे।
हम तो बाबुल तोरे बाग की कोयलिया,
कुहकत घर-घर जाऊँ, सुन बाबुल मोरे।
चुग्गा चुगत उड़ि जाऊँ, सुन बाबुल मोरे।

हास्य और व्यंग्य भी अमीर खुसरो की कविता की अन्यतम प्रवत्ति है। दरबार ने उनकी इस प्रवत्ति को पैदा किया और उसी ने इसको विकास और प्रकाश भी दिया। हास्य और व्यंग्य के माध्यम से खुसरो ने बन्धुत्व, सद्‌भाव, निरभिमानता, आशा, आह्लाद, आनन्द, मैत्री आदि को सम्प्रेषित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया हैं।

अमीर खुसरो का भाषा पर असाधारण अधिकार था। उन्होंने कविता को लोक से जोड़ने का प्रयास किया। उनकी भाषा हिन्दी या खड़ी बोली है जो उस समय दिल्ली के आसपास बोली जाती थी। इसके साथ ही, उनकी भाषा पर बोलियों का भी प्रभाव देखा जा सकता है। अमीर खुसरो ने अपनी रचनाओं में पद, दोहे गीत, गज़ल आदि काव्य रूपों का विधान किया है। उनके यहाँ अलंकार का अनायास व्यवहार भी देखा जा सकता है। खुसरो की अभिव्यक्ति–शक्ति उनकी संवेदना को और अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली बनाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं।

अमीर खुसरो बड़े ही विनोदप्रिय और सहृदय व्यक्तित्व के स्वामी थे, सामान्य जन–जीवन में विश्वास रखते थे। जन–जीवन के साथ घुल–मिलकर रहना उनका स्वभाव बन चुका था। इसीलिए उनकी रचनायें भी महत्त्वपूर्ण स्थान अर्जित कर पायी।

रचनाएँ

अमीर खुसरो का हिंदी साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है क्योंकि उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भिन्न–भिन्न विषय प्रस्तुत कर मनोविनोद और मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत की। अपभ्रंश मिश्रित और डिंगल भाषा पर उन्होंने सर्वप्रथम खड़ी बोली और ब्रजभाषा का सफलतापूर्वक प्रयोग किया।

उनकी रचनाओं में भारतीय और इस्लामी संस्कृतियों के समन्वय का पता चलता है। उनकी रचनाओं से लोक–भावनाओं का परिचय प्राप्त हो जाता है। उनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार थी–खलिकबारी, पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सुखने, गजल, आदि। सवंत् 1381 ई० में इनकी मत्यु हो गई थी।

9.3 विद्यापति

जन्म परिचयः विद्यापति का जन्म 1360 ई० के आस–पास मिथिला प्रांत में बिसपी नामक ग्राम में हुआ। इनके पिता गणपति ठाकुर उच्च्य कोटि के विद्वान तथा राज्यमंत्री थे। इससे विद्यापति को प्राचीन साहित्य एवं भाषाओं के अध्ययन की पूर्ण सुविधा मिलती रही।

रचनाएँ: विद्यापति की प्रमुख रचनाएँ भूपरिक्रमा, पुरूष परीक्षा, लिखनावली, विभागसार, वर्षकृत्य, गंगावाक्यावली, कीर्तिलता, कीर्तिपताका आदि रही हैं।

यद्यपि विद्यापति ने अनेक ग्रंथ संस्कृत तथा अवहट्ट भाषा के लिखें, पर इनकी प्रसिद्धि विशेषता 'पदावली' के कारण ही हुई। 'पदावली' के कारण ही विद्यापति मैथिली कोकिल के नाम से प्रसिद्ध है। विद्यापति समय–समय पर जो पद मैथिली भाषा में गाते रहे, उन्हीं का संग्रह 'विद्यापति पदावली' के नाम से प्रसिद्ध है।

'विद्यापति की पदावली' का हिन्दी साहित्य में अपना पथक महत्त्व रहा है। इसमें ऐसे पद पाए जाते हैं जिनका आदर राजाओं के प्रासादों से लेकर झोंपड़ियों तक समान रूप से है।

विद्यापति के बारे में कहा जा सकता है कि वे श्रंगारी कवि थे। विद्यापति शैव थे। इसलिए उनकी शिवस्तुति और दुर्गास्तुति में भक्ति भावना की जो गहनता मिलती है राजा–कृष्ण विषयक कविता में नहीं मिलती। कहा जाता है कि विद्यापति के पदों को सुनकर महाप्रभु चैतन्य भक्ति के आवेश में लोट–पोट हो जाते थे।

विद्यापति का व्यक्तित्व विविधमुखी है। हिन्दी काव्यकारों में विद्यापति का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। इनकी कविता इतनी लोकप्रिय हुई कि बंगाली, बिहारी और हिंदी प्रदेश के लोग इन्हें अपना–अपना कवि सिद्ध करने लगे। काल के हिसाब से विद्यापति की गणना आदिकाल के अन्तर्गत मानी जाती है।

विद्यापति अनेक राजाओ के आश्रय में रहे। विद्यापति का सारा जीवन राजदरबारों में बीता। वे कीर्तिसिंह, देवसिंह, शिवसिंह, पदमसिंह, हरिसिंह आदि राजाओं के आश्रम में रहे। शिवसिंह ने मिथिला पर अनेक वर्षों तक राज किया। वास्तव में शिवसिंह का शासनकाल विद्यापति के जीवन का उत्कर्ष काल था। राजा शिवसिंह उनके आश्रयदाता ही नहीं, बाल सखा भी थे।

विद्यापति का व्यक्तित्व और कृत्तित्व अन्यतम है। इसीलिए कवि को सम्मान के रूप में अनेक उपधि ायाँ दी गई। उदाहरणार्थ–अभिनव जयदेव, कविरंजन, कवि शेखर राजपण्डित आदि। विद्यापति अनेक आयामी प्रतिभा के रचनाकार थे। संस्कृत, अवहट्ठ और मैथिली भाषा पर उनका विशेष अधिकार था। इसीलिए तीनों ही भाषाओं में उनकी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। रचनाओं का विवरण इस प्रकार है–

संस्कृत रचनाएँ: (i) पुरूष परीक्षा, (ii) भूपरिक्रमा, गंगा वाक्यावली, विभासागर, दानवाक्यावली, दुर्गा भक्तिरंगिणी, गयापत्तलक, वर्णकृत्य, मणिमंजरी।

अवहट्ठ भाषा में रचित पुस्तकें: कीर्तिलता, कीर्तिपताका।

मैथिली की रचनाएँ: इसमें विद्यापति कृत पद आते हैं। इन पदों की संख्या लगभग एक हजार है। विद्यापति ने इन पदों की रचना विविध भाव दशाओं में की है। ये गीत विद्यापति की अमरता को कायम रखे हुए हैं।

विद्यापति की कविताओं मे उनकी भक्ति भावना का सहज सम्प्रसार देखा जा सकता हैं। राधा–कृष्ण, सीता–राम, शिव–शक्ति, गंगा, भैरवी गणेश आदि देवी–देवों से सम्बन्धित अनेक पद उन्होंने लिखे हैं। अनेक विद्वानों ने उन्हें भक्त स्वीकार किया है। उनको भक्त प्रमाणित करने वाली अनेक किंवदंतियाँ भी लोक में व्याप्त हैं। इन विविध आयामों के विकास और विस्तार को देखकर यह स्वीकार करने मे संकोच नहीं रह जाता है कि विद्यापति की कविता–विद्यापति के पद, भक्ति–भावना की सहज प्रकृति से पुष्ट है।

विद्यापति की कविता का दूसरा आयाम श्रंगार और सौन्दर्य है। विद्यापति का दरबार में रहना, सौंदर्य का शरीरी–मांसल वर्णन करना, वयःसन्धि का निरूपण करना, जयदेव की परम्परा में आना विद्यापति को श्रंगारी कवि की परिधि में लाता है। उन्होंने हरिकथा के समान अनन्त सौंदर्यकथा की अपूर्ण अवतारणा की है। उसके मर्म को समझाते–बुझाते हुए उन्होंने लिखा है–

सखि हे, पुछसि अनुभव मोय।
सेहो पिरीत अनुराग बखाइत।
तिले-तिले नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारल।
नयन न तिरपित भेल।।

विद्यापति सौंदर्य के सच्चे सर्जक, साधक और आराधक थे। सौंदर्य की सान्द्रता उनका शील और वही उनकी शक्ति थी। विद्यापति सौंदर्य में खूब रमे थे और सौंदर्य की सजलता ने उनके मन तथा प्राणों को सरसित कर रखा था। इसी कारण वे ऐसे सौंदर्य की सर्जना कर सकने में समर्थ हो सके है जो

द्रष्टा को भावक, विस्मित, चकित करता है। विद्यापति के पद, चाहे वे श्रृंगारमूलक हों यह भक्तिमूलक हों, सौंदर्यमूलक हो या सांस्कृतिमूलक, गीतात्मक है। हिंदी जगत् के विद्वानों ने उन्हें हिंदी गीतिकाव्य परम्परा का वास्तविक प्रवर्त्तक स्वीकार किया है। अपनी गीतिशैली की मधुरता, मदिरता तथा प्रभविष्णुता के लिए विद्यापति हिन्दी साहित्य में अनूठे–अनुपम हैं। वैयक्तिकता, रागात्मकता, काल्पनिकता, भाव एकता, संक्षिप्तता, शैलीगत सुकुमारता, संगीतात्मकता, लोकतत्त्व आदि विशेषताओं से विद्यापति के गीत आनन्दित आन्दोलित है। उनके गीतों में एक गीत अवलोकनीय है–

डम डम डम्फ दिमिक द्रिमि मादल, रूनु झुनु मंजीर बोल।
किंकिनि रनरनि बलआ कनकनि, निधु बने राम तुमुल उतरोल।
बीन खाब मुरज स्वर मंडल, सा रि ग म प ध नि सा बहुविधभाव।
घटिता घटिता धुनि मदंग गरजनि, चंचल स्वर मण्डल करू राव।।
स्रमभरे गलित लुलित कबरीजुत, मालति माल विथारल मोति।
समय बसंत रास रस वर्णन, विद्यापति मति छोमित होति।

भाषा और शिल्प की दष्टि से भी विद्यापति की प्रतिभा अनेकोन्मुखी है। संस्कृत, अवहट्ठ और मैथिली में उन्होंने रचनाएँ की हैं। उनके समस्त गीत, मैथिली भाषा में हैं, जो उनकी कीर्ति की ध्वजाएँ हैं।

विद्यापति का देहावसान: विद्यापति की मत्यु 1450 ई० में मानते हैं।

ekMîy& 3

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल

10. भक्तिकालीन परिवेशः ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक

भक्ति काल का उद्भव विशेष परिस्थितियों में हुआ है। भारत मुस्लिम शासन में अनेक विषमताओं से जूझ रहा था। ऐसे में जनमानस को आस्था विश्वास और भक्ति से ही जीने का मार्ग मिलता है। इस काल की प्रमुख प्रवत्तियाँ रेखाकंन योग्य है

10.1 ऐतिहासिक परिवेश

हिंदी साहित्य का मध्यकाल भारत में मुस्लिम साम्राज्य के क्रमिक उत्थान–पतन का युग है। उस समय का शासक दिल्ली का सुलतान मुहम्मद बिन तुगलक उत्तर से दक्षिण तक अपने राज्य का विस्तार करना चाहता था। इसी विचार का लक्ष्य कर उसने दिल्ली की अपेक्षा देवगिरी को अपनी राजधानी बनाया और उसका नाम दौलताबाद रखा। 1375 से 1700 विक्रमी संवत् तक दास, खिलजी, तुगलक, सैयद, लोदी, मुगल आदि वंशों के व्यक्ति दिल्ली की गद्दी पर रहे। जाति और संस्कृति की दष्टि से ये विदेशी ही बने रहे। भले ही इनमें से अनेक का जन्म भारत में हुआ था। धार्मिक दमन, राज्य विस्तार के लिए निरन्तर युद्ध तथा ऐश्वर्य और विलासिता का जीवन इनकी विशेषताएँ रही जिसके परिणामस्वरूप हिंदी धर्म व वैष्णन भक्ति के पुनर्जागरण को बल मिला। अपने धर्म की रक्षा के लिए एक अखिल भारतीय धार्मिक आन्दोलन, जिसे भक्ति आन्दोलन भी कहा जाता है, प्रारम्भ हुआ। भक्ति आन्दोलन के प्रेणेता दार्शनिक, संत, महात्मा और समाज–सुधारक थे जिन्होंने एक ओर इस्लाम की आक्रामकता के विरुद्ध जन–जन को संगठित किया, वहीं दूसरी ओर सद्भाव स्थापित करने का प्रयास भी किया।

सोलहवीं शती के मध्य में बाबर ने मुगल सल्तनत की नींव डाली उसने मेंवाड़ के राणा सांगा को पराजित करके राजपूतों के प्रतिरोध को रोक दिया, किन्तु पठानों ने हिम्मत न हारी। पठान शासक शेरशाह सूरी ने हुमायूँ को पराजित किया। शेरशाह के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले ओर मुगलों का नेतत्त्व अकबर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के हाथ में आ गया। कालान्तर में सम्राट अकबर के सामने देश के छोटे–छोटे हिन्दू और मुसलमान शासकों ने एक–एक कर घुटने टेक दिये। अकबर का प्रतिरोध ा महाराणा प्रताप ने किया और वे आजीवन लड़ते रहे। शाहजहाँ के शासन के अन्तिम दिनों में बुन्देलखण्ड में चंपतराय और महाराष्ट्र में शिवजी ने स्वतन्त्रता का झंडा ऊँचा किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल का सामान्य परिचय देते हुए कहा है, ”देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रहा

गया।" कोई भी साहित्य युग परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है। किन्तु भक्तिकालीन साहित्य परिस्थितियों से बहुत कम प्रभावित हुआ। एक भक्तिकालीन कवि ने लिखा है।

'सन्तन कहा सीकरी सों काम।'

वह न तो राजदरबार को महत्त्व देते थे और न प्राकृत–जन का गुणगान करते थे। मुस्लिम शासक केवल अनुदार एवं असहिष्णु ही नहीं कहे जा सकते। उनके शासन–काल में संस्कृत एवं देशी भाषाओं के साहित्य, संगीत और कला को प्रोत्साहन मिला। जौनपुर के सुल्तानों ने शास्त्रीय संगीत का पुनरूदार करवाया तथा 'संगीत शिरोमणि' नामक संस्कृत ग्रंथ का निर्माण कराया। भक्ति काव्य का धर्म विकास मुगल–साम्राज्य के समय में हुआ है, किन्तु राजनीतिक व्यवस्था के प्रति असन्तोष इन कवियों की वाणी में यत्र–तत्र अवश्य मिल जाता है। जैसे–

"म्लेच्छनि भार दुखित मेंदिनी।"

"वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये।
साधु सीद्यमान जान रीति पाप पीन की ।।"

10.2 सामाजिक परिवेश

इस युग में सामाजिक परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति में आदान–प्रदान हुआ। उस समय तक हिन्दू–मुसलमानों में परस्पर विवाह हो जाते थे। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दुओं और मुसलमानों में पूर्ण समन्वय स्थापित हो गया था। कुछ मुसलमान शासक हिन्दुओं के साथ अत्यंत कठोर व्यवहार करते थे। अलाउद्दीन ने दोआब के हिन्दुओं से उपज का 50 प्रतिशत भाग कर के रूप में बड़ी कठोरता से वसूल किया था। उस युग के हिन्दुओं की आर्थिक विपन्नता का चित्र खींचते हुए 'तारीखे फिरोजशाही' के लेखक बर्नियर का कहना है कि "उन हिन्दुओं के पास ध
ान संचित करने के कोई साधन नहीं रह गये थे और उनमें से अधिकांश को निर्धनता, अभावों एवं आजीविका के लिए निरन्तर संघर्ष में जीवन बिताना पड़ता था। प्रजा के रहन–सहन का स्तर बहुत निम्न कोटि का था। करों का सारा भार उन्हीं पर था। राज्य पद उनको अप्राप्त थे।" तुलसीकृत 'कवितावली' की निम्नलिखित पंक्तियों से तत्कालीन समाज की स्थिति स्पष्ट झलकती है–

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि।
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।।
जीविका विहीन लोग सीघमान सोच बस।
कहँ एक एकन सौं, कहाँ जाई, का करी।।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का विवेचन करते हुए लिखा है। "दैनिक जीवन, रीति रस्म, रहन–सहन, पर्व–त्यौहार आदि की दष्टि से तत्कालीन भारतीय समाज, सुविध
ा–सम्पन्न और असुविधा–ग्रस्त इन दो वर्गों में विभक्त था। प्रथम वर्ग में राजा–महाराजा, सुल्तान, अमीर, सामन्त और सेठ–साहूकार आते थे, जिनमें मनमाने ढंग से वैभव प्रदर्शन की उल्लासपूर्ण प्रवत्ति पायी जाती थी। द्वितीय वर्ग में किसान, मजदूर, सैनिक, राज्य–कर्मचारी और घरेलू उद्योग–धन्धों में लगी सामान्य जनता थी जो प्रथा–परम्परा का पालन कर संतोष की साँस ले लिया करती थी।"

हिन्दुओं में जाति–पाति के बंधन दिन–प्रति–दिन कठोर होते जा रहे थे, किन्तु इनके प्रति आवाज भी उठ रही थी। महाराष्ट्र के नामदेव की भाँति उत्तर भारत में रामानन्द और उनके शिष्य कबीर खुलकर इसका विरोध कर रहे थे। उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों का खंडन किया। हिंन्दू–मुस्लिम एकता का संतों का प्रयास मुगल–काल में संगीत, कला आदि के क्षेत्रों में दोनों संस्कृतियों के समन्वय में देखा जा सकता है।

तत्कालीन साधु–समाज पर भी पाखण्ड की काली छाया मंडराने लगी थी। भारतीय मुस्लिम समाज की अवस्था हिन्दुओं से अधिक भिन्न न थी। वर्ग–व्यवस्था में आस्था न रखने वालों में भी किसी न किसी प्रकार का आपसी भेदभाव बना हुआ था। इन दिनों दास प्रथा भी प्रचलित थी। हिन्दू कन्याओं को सम्पन्न मुसलमान अधिकाधिक संख्या में क्रय करके अपने घरों में रख लिया करते थे। कुलीन नारियों का अपहरण करवाकर अमीर लोग अपना मनोरंजन करते थे। स्त्रियों को पुरूष जैसा स्तर व सम्मान प्राप्त नहीं था। मुस्लिम महिलाओं की स्थिति हिन्दू स्त्रियों से अधिक भिन्न न थी। बहु विवाह प्रथा के कारण हरमों में इनकी दुर्गति हुआ करती थी। मुस्लिम समाज अपने मूल रूप को खोकर एक प्रकार से भारतीयकरण में प्रचलित हो गया था।

10.3 सांस्कृतिक परिवेश

तत्कालीन समय में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ एक–दूसरे के निकट आई। संगीत, चित्र तथा भवन–निर्माण कलाओं में दोनों संस्कृतियों के उपकरणों में समन्वय स्थापित हुआ। समन्वयात्मकता भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। पुराणों में समन्वयात्मकता को जागत करने व उसे बढ़ावा देने का यथा–सम्भव प्रयास किया गया है। मूर्ति–पूजा, तीर्थ यात्रा, धर्म–शास्त्रों का सम्मान, कर्म फल में विश्वास, अवतारवाद अथवा सगुण भक्ति का ही सर्वत्र आधिपत्य दिखाई देता है। भारतीय समाज में समय–समय पर विदेशी और विजातीय तत्त्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं। परन्तु इन्हीं में से होकर एक जीवनी–शक्ति का संचार भी होता रहा है कि भारतीय साहित्य डूबते–डूबते उभरकर इस युग की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषताओं में गिना जा सकता है, जिनकी धुरी पर हिन्दू जीवन चक्र चलता रहा और इस्लाम के भारत–प्रवेश के पूर्व तक अविकृत रूप में प्रचलित रहा। मध्यकालीन हिन्दू समाज के दो पक्ष उभरकर हमारे सामने आते हैं। एक वह जो शास्त्रों का समर्थक है और दूसरा वह जो परम्परागत विश्वासों तथा मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर है। यह दूसरा पक्ष ही पौराणिक पक्ष है। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं मतों की व्याख्या प्रतिव्याख्या के रूप में विशिष्यद्वैत, केवलाद्वैत, द्वैताद्वेत, शद्धाद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इन सभी में ईश्वर को निरपेक्ष मानकर उसकी भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त प्रायः ज्यों के त्यों रह गये हैं।

ईश्वर और मनुष्य के बीच संबंध स्थापित करने का एक माध्यम धर्म है। जाति, कुल, देश–काल और परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर नैतिक दायित्व का निर्वाह करना धर्म है। धर्माचार अथवा नैतिकता समाज परक है और धर्म साधनाव्यक्तिनिष्ठ। साध्य और साध का एकीकरण साधना के माध्यम से होता है। परन्तु इस काल में धर्म–साधनों की बाढ़ सी आ गई और गुप्त साधनाओं के अन्तर्गत तुच्छ साधनाएँ भी इसमें प्रवेश कर गई। धर्माचार के नाम पर अनाचार, मिथ्याचार और व्याभिचार तक पलने लग गया। फलस्वरूप ज्ञान–चर्चा की आड़ में पाखण्ड़ को प्रश्रय मिलने लगा और समाज में एक प्रकार की अराजकता फैल गई।

मध्यकाल में अरूचि और संस्कार का प्राधान्य था। इस कारण बहुधा सांमजस्य बिगड़ जाता था। और सन्तुलन बनाये रखने के लिए बार–बार समन्वय की ओर उन्मुख होना पड़ता था। इस प्रकार मध्यकाल में भारत की सामाजिक संस्कृति का रूप और अधिक निखरने लगा। ताजमहल और लाल किला भारतीय तथा ईरानी वास्तुकलाओं के सम्मिश्रण के उत्तम निदर्शन है। नायक–नायिकाओं के नयनाभिराम चित्रों तथा विविध कलाओं के रूप में दोनों जातियों की चित्र कलाओं का समागम दर्शनीय है। एलोरा के समीप कैलास मन्दिर में शिव की मूर्ति के सिर के ऊपर बोधिवक्ष स्थित है। खजुराहो से उपलब्ध ा कोक्कल के वैधनाथ मन्दिर वाले शिलालेख में ब्रह्म, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है।

10.4 साहित्यिक परिवेश

भक्तिकाल में जिस साहित्य की रचना हुई वह अधिकांश पद्य में अर्थात् छन्दोबद्ध काव्य रूप में है। उस समय संस्कृत तो उच्च हिन्दू वर्ग के लोगों की काव्य भाषा थी। शाही दरबारों में अरबी–फारसी को प्रयोग होता था। परन्तु हिन्दी की लोकभाषाओं का, विशेष रूप से अवधी तथा ब्रजभाषा का, काव्य में प्रयोग होता था। कबीर ने तो ऐसी मिली–जुली लोकभाषा का प्रयोग किया है जिसे सधुक्कड़ी खिचड़ी अथवा सन्ध्या भाषा कहा गया है। भक्तिकाल में प्रबन्धकाव्य, मुक्तक काव्य तथा गीतिकाव्य की रचना हुई। संस्कृत भाषा के कुछ ग्रंथों की टीकाएँ भी हुई। हिंदी भाषा और साहित्य ने भक्तिकालीन परिवेश में उच्चकोटि का सहित्य रचने की पष्ठभूमि नहीं बल्कि चरम विकास प्राप्त किया। कबीर, सूर तथा तुलसी की रचनाएँ साहित्यिक परिवेश की अनुपम देन हैं।

भक्तिकालीन साहित्य चरमोत्कर्ष का साहित्य था। इसकी विशेषताएँ अन्य कालों से कही अधिक चरम सीमा पर थी।

1. **गुरू की महिमा का वर्णनः** सभी संतों तथा भक्तों ने गुरू की महत्ता का स्वीकार किया है, क्योंकि भक्तिमार्ग में वही व्यक्ति दीक्षित होता है जिस पर गुरू की कृपा हो। बिना गुरू के ज्ञान होना संभव नहीं। निर्गुण भक्तिधारा के प्रमुख संत कबीर ने तो गुरू को गोबिन्द अर्थात् ईश्वर से भी पहले पूजने की बात कहीं है जैसे कि–

   "गुरू गोबिन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाय।
   बलिहारी गुरू आपकी, जिन गोबिन्द दियो बताय।।"

   सगुण भक्तिधारा में तुलसीदास ने भी ऐसा ही कहा है–

   "बिना गुरू कहां ते पाऊं, दीजो ज्ञान हरिगुण गाऊं।" अथवा

   रामचरिमानस के आरम्भ में बालकाण्ड में लिखा है।

   "बन्दौं गुरूपद पदुम परागा"।

   सूरदास ने भी गुरू की महत्ता एवं कृपा को स्वीकार किया है। सूफी संत जायसी ने भी भक्तिमार्ग दिखाने वाले गुरू को ही स्वीकारते हुए लिखा है

   "गुरू सूआ जेहि पंथ दिखावा"।

2. **नामकरण अथवा नाम की महत्ताः** ईश्वर को चाहे निर्गुण मानने वाले सन्त हो अथवा सगुण मानने वाले भक्त कवि हो सभी ने राम, कृष्ण तथा अल्लाह के नाम को स्मरण करने की बात कही है। तुलसी ने तो कलियुग में केवल 'राम नाम' को आधार मान कर 'कलियुग केवल नाम अधारा' कहा, संत कवियों ने राम और रहीम में कोई अंतर नहीं माना, परन्तु कबीर के 'राम' और तुलसी के 'राम' में भिन्नता देखी जा सकती है।

3. **भक्तिभावना का प्राधान्यः** सारे भक्ति साहित्य में भक्ति की प्रधानता दिखाई पड़ती है। संत कबीर ने भक्ति के बिना सारे संसार को डूबा हुआ और मरा हुआ ही माना है। वे कहते है–

   "हरि भक्ति जाने बिना बूढ़ि मुआ संसार।"

   भक्तों ने भी उस ज्ञान का खण्डन किया है जो भक्ति के विरूद्ध है। सूरदास ने गोपियों के माध्यम से उद्धव को कहलवाया है–

   "बार-बार वचन निवारो, भक्ति विरोधी ज्ञान तिहारो"।

4. **प्रेमभाव की अभिव्यक्तिः** भक्तिकालीन साहित्य में मनुष्यमात्र तथा ईश्वर के प्रति सच्चे प्रेम की भावना देखी जा सकती है। संत कबीर ने तो पंडित अथवा विद्वान होने की कसौटी ही प्रेम को बताया है।

"पोथी पढ़ि पढ़ि, जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढि सो पंडित होय।।

सूफी संतों ने भी प्रेम को भक्ति का आधार माना है।

5. **संसार के बंधनों से मुक्त होने का भावः** सम्पूर्ण भक्तिसाहित्य में ईश्वर या ब्रह्म के प्रति राग तथा संसार के प्रति वैराग्य की भावना पाई जाती है। भक्ति को ही सांसारिक बधनों से छुटकारा दिलाने का साधन माना है। इसी वैराग्य भाव को मुक्ति अथवा मोक्ष की कामना भी कहा जा सकता है।

6. **सत्संग, भजन-कीर्तन व संगीत का महत्वः** भक्तिकालीन साहित्य में सत्संग की महत्ता स्वीकार करते हुए संतों की संगति को भक्तिभाव तथा शुद्धाचरण के लिए हितकर बताया है। सूर एवं तुलसी ने भी सत्संग की महत्ता स्वीकार की है। भक्ति साहित्य में लोक—संगीत तथा कीर्तन को भी उचित स्थान दिया गया है। तुलसी ने लिखा है,

"बिनु सत्संग विवेक न होई"।

कबीर, तुलसी, सूर सभी ने सत्संग की महत्ता पर बल दिया है।

7. **जाति पाँति तथा ऊँच—नीच के भाव का खण्डनः** भक्ति साहित्य के क्षेत्र में जाति—पाँति, ऊँच—नीच तथा छूआ—छूत का सभी संतों, सूफियों तथा भक्त कवियों ने प्रबल खण्डन किया है। यह भी हो सकता है कि अधिकांश सन्त तथा भक्त तथाकथित निम्न जातियों अथवा हीन समझी जाने वाली जातियों से संबंधित थे। इसके अतिरिक्त भगवत् भक्ति में ऊँच—नीच के भाव को सर्वथा त्याज्य ही माना गया हैं क्योंकि ईश्वर की आराधना करने वाले एक समान है। कबीर ने कहा भी है।

"जाति न पूछो साध की, पूछ लीजियों ग्यान।
मोल करो तलवारि का, पड़ी रहन दो म्यान।।

तुलसी का भी मानना है कि

जाति—पांति पूछे नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।।

8. **भगवान तथा भक्त संबंधी भावः** सच्चे भक्त तो भगवान को भी अपने वश में कर लेते है। भगवान से व्यक्तिगत संबंध स्थापित करने की बात संत कवि तथा सूफी भी मानते हैं। ऐसे कई प्रसंग भक्तिकालीन साहित्य में देखे जा सकते है जहाँ भक्त की लाज बचाने को भगवान को किसी न किसी रूप में आकर सहायता करनी पड़ी

"जब जब भीड़ पड़ी संतन पर आकर प्राण बचायें।"

इसी सन्दर्भ में किसी सूफी संत ने कहा है

"खुदी को जो खुद से जुदा देखते हैं
खुदी को मिटाकर खुदा देखते हैं।"

9. **लोक भाषा में लोक जीवन का दर्शनः** भक्तकाल के सभी संतों, भक्तों तथा रचनाकारों ने संस्कृत भाषा को न अपनाकर लोकभाषा ब्रज, अवधी अथवा सधुक्कड़ी मिली जुली साधारण बोलचाल की भाषा को अपने साहित्य का माध्यम बनाया।

11. भक्ति आन्दोलन

भक्ति भगवान के प्रति मानव की प्रेम भावना का प्रवाह है। इस भावना—प्रवाह से वह तो आनन्द की अनुभूति करता ही है जबकि उससे दूसरे लोग भी आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। भक्ति का मूल उद्‌गम हमें वेदों से ही दिखाई पड़ने लगता है। वह उनकी भक्ति—भावना का ही प्रयास है। जिससे ऋषियों ने गहरी श्रद्धा और अनुरक्ति के द्वारा देवताओं पर ऋचाएँ लिखी हैं। विष्णु को भगवान रूप में प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। गीता इसका प्रमाण है। इस कृति में ज्ञान, भक्ति और कर्म का श्रेष्ठ समन्वय भी हुआ है। पुराण साहित्य तो भक्ति की दष्टि से विशेष महत्त्व रखते है। पुराण—काल में वैष्णव भक्ति का बड़ा ही चमत्कारी वर्णन मिलता है।

भक्ति आंदोलन के उदय का एक कारण मुसलमान आक्रान्ताओं को भी माना जाता है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत इस प्रकार है—"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के ह्रदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके मंदिर गिराये जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरूषों का अपमान होता था और वे कुछ न कर सकते थे। ऐसी स्थिति में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के नीचे हिन्दू जनता पर उदासी छाई रही। अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"

भक्ति आन्दोलन के आचार्यों में शंकराचार्य, रामानुज, निम्बार्क, रामानन्द, महवाचार्य, बल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि रहे हैं। हिंदी का भक्ति आन्दोलन संवत् 1400 से 1700 तक का माना गया हैं। इसमें प्रमुख रचनाकार कबीरदास, रैदास, नानक, जायसी, सूरदास, मीरा, तुलसीदास, आदि दिग्गज कवियों ने भक्ति कालीन परिवेश को आन्दोलन के रूप में उद्‌घाटित किया है।

भक्ति के उत्थान का ततीय काल 1375 ई० से माना जाता है। इस काल में हिंदी साहित्य भक्ति से ओत—प्रोत था। इसलिए हिंदी—साहित्य के इतिहास में यह काल 'भक्ति—काल' कहलाता है। मध्यकालीन भक्ति का विकास दो शाखाओं में हुआ—निर्गुण तथा सगुण। इनकी भी दो—दो शाखायें है। निर्गुण में ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी शाखा एवं सगुण में कृष्ण तथा राम—शक्ति की शाखा। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन का संक्षेप में विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है–

भक्ति दो भागों में प्रवाहित होकर चली

(1) सगुण (2) निर्गुण

सगुण भक्ति आगे दो भागों में विभाजित हुई–

(1) रामभक्ति (2) कृष्ण भक्ति

निर्गुण भक्ति के भी दो भाग इस प्रकार है–

(1) संत मत(ज्ञानाश्रयी) (2) सूफी मत (प्रेमाश्रयी)

भक्ति आंदोलन के विषय में विभिन्न विद्वानों के मत इस प्रकार रहे हैं–

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन को पराजित मनोवत्ति का परिणाम तथा मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया माना है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है, "अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग की क्या था।" डा० ताराचन्द आदि विद्वानों ने माना है कि भारतीय भक्ति आन्दोलन मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क की देन है और शंकराचार्य, निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, आलवार, संत तथा लिंगाचत आदि सम्प्रदायों की दार्शनिक मान्यताओं पर मुस्लिम प्रभाव है।

प्रायः अधिकांश विद्वानों का मत है कि भक्ति का बिखा ऐसा नहीं है जो विदेशों से लाया गया हो। न ही यह निराशा प्रवत्तिजन्य है और न ही किसी प्रतिक्रिया का फल। वस्तुतः यह एक प्राचीन दर्शन—प्रवाह और प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा की एक अविच्छिन धारा हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है, "नया साहित्य (भक्ति साहित्य) मनुष्य—जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य हैं भगवद्भक्ति, आदर्श, शुद्ध सात्विक जीवन और साधन, भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान। इस साहित्य को प्रेरणा देने वाला तत्त्व भक्ति है। इसीलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अति उत्तम है।

मध्यकालीन भक्ति साहित्य प्रायः पद्यमय है और वहाँ साहित्य काव्य का पर्याय है। इसीलिए काव्य रसिकों अथवा साहित्य—पारखियों का ध्यान अचानक ही उन मानदण्डों की ओर आकृष्ट हो जाता है जिन्हें उत्कृष्ट काव्य की कसौटी मान लिया जाता है और जो किसी न किसी काव्यशास्त्र परम्परा का अनुसरण करते हैं। कबीर, जायसी, सूर तथा तुलसी जैसे संवेदनशील इस काल में छाये रहे। इस समय संस्कृत की टीकाओं, व्याख्याओं की सष्टि होती रही।

धार्मिक संघर्ष के इस युग में तत्कालीन बादशाहों तथा राजाओं के भक्ति कवियों ने प्रशस्ति, शृंगार, रीति, नीति आदि से सम्बन्धित मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनायें की। इस काल में वीर—रस प्रधान काव्यों की रचना हुई तथा इसके साथ—साथ अन्य रसों की भी रचनाएँ लगातार आती रहीं। मुगल बादशाह शेरशाह सूरी और शहजादे तथा अनेक प्रादेशिक मुस्लिम शासकों के अतिरिक्त अनेक हिन्दू राजाओं ने हिंदी भाषा को प्रोत्साहन तो दिया परन्तु संस्कृत के समानान्तर हिंदी को वह सम्मान न मिल सका जो उसे मिलना चाहिए था। राजस्थानी ब्रजभाषा की रचनाएँ अधिकता में देखने को मिलती हैं और इसमें भक्ति—भावना का प्रखर स्वर है। धर्म की व्याख्या करने वाले इन काव्यों में उच्च—कोटि के काव्य के दर्शन होते हैं। उसकी आत्मा भक्ति है, इसका जीवन स्रोत रस है और उसका शरीर मानव है। इस युग का भक्ति साहित्य हृदय, मन और आत्मा को प्रभावित करता है। यह साहित्य लोक तथा परलोक दोनों की ही व्याख्या मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करता है।

भक्तिकालीन साहित्यकारों द्वारा उठाये गये आन्दोलनकारी कदम

1. **रूढ़ियों तथा आडम्बरों का विरोध**ः प्रायः सभी संत कवियों ने रूढ़ियों, मिथ्या आडम्बरों तथा अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की है। इसका कारण इन लोगों का सिद्धों तथा नाथ पन्थियों से प्रभावित होना है। ये लोग तत्कालीन समाज में पाई जाने वाली इन कुप्रवत्तियों का कड़ा विरोध कर चुके थे। इन कवियों ने मूर्तिपूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, व्रत, रोजा, नमाज, हज्ज इत्यादि विधि—विधानों का कड़ा विरोध किया है।

   "बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
   जो जन बकरी खात है, तिनको कौन हवाल।।"

   × × × ×

   "पत्थर पूजें हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।
   ताते वह चक्की भली पीस खाय संसार।।"

   × × × ×

   "कांकर पत्थर जोरि के, मस्जिद लई बनाय।
   ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, बहिरा हुआ खुदाय।।"

2. **आत्मसमर्पण की भावना**ः संत एवं भक्ति साहित्य में सभी इतिहासकारों की मान्यता रही है क्योंकि भक्ति के क्षेत्र में जब तक कोई व्यक्ति अपने अहं अथवा 'मैं' की भावना को

मिटा नहीं देता, तब तक उसे किसी प्रकार की आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं हो सकती। तुलसी ने तो अपनी दास्य भक्ति में किसी प्रकार का अहं नहीं रखा।

3. **भजन तथा नाम की महत्ता पर बलः** संत कवियों ने ईश्वर–प्राप्ति के लिए भजन तथा नाम–स्मरण को परमावश्यक माना है। इसीलिए उन्होंने कहा है कि–

"सहजो सुमिरन कीजिए, हिरदै माहिं छिपाइ।
होठ-होठ सूँ न हिलै, सकै नहीं कोई पाइ।।

संत कवि ब्राह्य–विधानों से परिपूर्ण किसी भी साधना–पद्धति में आस्था नहीं रखते। अपने आराध्य का, मन को एकाग्र कर, स्मरण करना ही उनके लिए यहाँ अभिप्रेत रहा है।

4. **गुरू की महत्ता पर बलः** सभी संतों ने ब्रह्म–साधना के लिए सद्‌गुरू का पथ–प्रदर्शन अनिवार्य माना है। सद्‌गुरू ही उन्हें परम तत्त्व के रहस्य से परिचित करा, उनके हृदय में उसके प्रति अनन्य प्रेम की भावना उत्पन्न करता है। नामदेव ने गुरू–महिमा को व्यक्त करते हुए कहा है।

"सुफल जनम मोको गुरू कीना। दुख बिसार सुख अंतरदीना।
ज्ञान जान मोको गुरू दीना। राम नाम बिन जीवन हीना।।"

5. **नारी के प्रति दष्टिकोण** : संत कवियों ने सती एवं पतिव्रता नारियों की प्रशंसा की है। नारी के सत् पक्ष का निरूपण करते हुए कबीर ने लिखा है–

"पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप।
पतिव्रता के रूप, वारौं कोटि सरूप।।"

उन्होंने नारी की कभी भी निन्दा नहीं की है। केवल नारी के कामिनी रूप की निन्दा जरूर की है, उसे माया पथ भ्रष्ट करने वाली माना है।

भक्ति आन्दोलन का उदय दक्षिण–भारत को मानना या न मानना । विद्वानों में चर्चा का विषय रहा है। भक्ति आन्दोलन का उदय बेशक दक्षिण में न माना जाये, लेकिन यह स्वीकार करना पडेगा कि पाँचवी और छठी शताब्दियों में दक्षिण में जैनों और बौद्धों का पतन होता है और शैवों तथा वैष्णवों को अपने कार्य में विजय प्राप्त होती हे। निसंदेह कहा जा सकता है कि, तत्कालीन आलवारों तथा नायनमारों का भक्ति आन्दोलन में विशेष महत्त्व रहा है। इसी महत्त्व को निरूपित करते हुए नन्द लाल सिन्हा ने कहा है–"भारत की एकता तथा हिन्दुत्व का सुधार उपस्थित करने के लिए भक्ति आन्दोलन को प्रवत्त करके दक्षिण के आलवार तथा नामनमार सतों ने हमें आभारी कर दिया।" भक्ति आन्दोलन के इतिहास में आलवारों और नायनमारों का योगदान चिरस्मरणीय रहेगा। आलवारों को वैष्णव कहा गया है। इनकी संख्या 12 मानी गयी है। इनकी रचनाएँ 'दिव्य प्रबन्धम्' में संकलित हैं जिसका सम्पादन नाथमुनि ने नौवीं शती के अन्त में किया था। 'दिव्य प्रबन्धम्' में सकलित पदों की संख्या लगभग चार हजार है। नायनमार को शैव कहा जाता है। इनका भी उद्देश्य हिन्दू धर्म की रक्षा करना था। इन्होंने अपनी सारी–अर्चना शिव को ध्यान में रखकर की है। तिरूज्ञान सम्बन्धक, अप्पर, सुंदर मूर्ति नायनमारों में प्रधान है। भक्ति के प्रचार और विस्तार में इनका विशेष महत्त्व है। भक्ति आन्दोलन को तीव्र गति प्रदान करने में आचार्यों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। इस आन्दोलन में जिन आचार्यों ने कार्य को गति दी, उनका उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है–

शंकराचार्य

शंकराचार्य का कार्यक्षेत्र सारा भारतवर्ष था। उन्होंने भक्ति का ही प्रचार नहीं किया, वरन् आने वाली पीढ़ी का मार्ग दर्शन भी किया। अद्वैत का प्रचार करना ही उनके जीवन का लक्ष्य था। अनैतिकता अन्धविश्वास तथा हिंसा से भक्ति को मुक्ति दिलाने का श्रेय शंकराचार्य को ही है।

रामानुज

के० एल० नीलकान्त शास्त्री ने लिखा है कि भक्ति आन्दोलन के संगठनात्मक तत्त्वों को बलशाली सिद्ध करने का सबसे बड़ा श्रेय आचार्य रामानुज को है। आचार्य की सबसे महत्त्वपूर्ण देन भक्ति जगत् में बुद्धि पक्ष तथा हृदय पक्ष दोनों का समन्वय करना था। रामानुज का दार्शनिक सिद्धान्त विशिष्टताद्वैतवाद है।

निम्बार्क

निम्बार्क के दार्शनिक सिद्धान्त को द्वैताद्वैत कहते हैं। इनके दो ग्रन्थ बताये जाते हैं–वेदान्त पारिजात सौरभ तथा दशश्लोभी। हिंदी को इस सम्प्रदाय की महत्त्वपूर्ण देते है। घनानंद इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं।

रामानन्द

रामानंद के विषय में प्रचलित है कि

"भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्तदीप नवखंड।।"

इस सन्दर्भ में देवीशंकर अवस्थी ने कहा है कि उत्तर भारत में वैष्णव साधना का पहला केन्द्र काशी में श्री वैष्णवों का बना। दक्षिण में भक्ति रामानन्द के गुरू राघवानंद लाए थे। परंतु संभवतः दक्षिण की परिस्थितियों में पले–बढ़े राघवानंद उत्तर भारत की मनोवत्ति के अनुकूल नहीं बन पाये थे, परंतु अपने विद्रोही शिष्य रामानंद को अलग सम्प्रदाय चलाने की आज्ञा देकर एक समुचित कार्य किया था। रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्रर में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उन्होंने भक्ति का द्वार सभी वर्गों और जातियों के लिए खोला, देवासन–पूजासन पर राम–सीता की प्रतिष्ठा की और लोक भाषाओं को मान प्रदान किया। उनकी दो रचनाएँ भी प्राप्त है। 'वैष्णव मताब्ज–भास्कर' तथा 'श्री रामार्चन पद्धति'।

मध्वाचार्य

आचार्य मध्वाचार्य का जन्म 1197 में कर्नाटक में माना जाता है। इन्होंने द्वैतवादी मत का प्रवर्त्तन किया था। गीता भाष्य, विष्णुतत्त्व निर्णय, बाह्मसूत्र भाष्य, उपनिषद् भाष्य, सदाचार स्मति आदि उनके प्रधान ग्रन्थ हैं। मध्वाचार्य ने मायावाद का विरोध करते हुए उसका खण्डन किया था। चैतन्य सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक चैतन्य महाप्रभु माध्व सम्प्रदाय के भक्त थे।

बल्लभाचार्य

बल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवाद (पुष्टिमार्ग) के प्रवर्त्तक थे। आचार्य बल्लभ मायावादियों तथा नास्तिकों के घोर विरोधी थे। बल्लभाचार्य की भक्ति पद्धति का नूतन रूप और उसमें कृष्ण के माधुर्य भाव की उपासना की स्वीकृति अपनी विशिष्ट देन है जो विष्णु स्वामी के युग में किसी भी रूप में प्रचलित नहीं थी। आचार्य बल्भ ने संवत् 1556 में श्री नाथ के मन्दिर का निर्माण करवाया था। हिंदी भक्ति साहित्य की समद्धि में इस मन्दिर का बड़ा महत्त्व रहा है। इस सन्दर्भ में देवीशंकर अवस्थी ने लिखा है कि "यह मंदिर आगे चलकर न केवल बल्लभ सम्प्रदाय का ही केन्द्र पीठ बना, बल्कि अष्टछाप के गायक कवियों की सजन–भूमि भी बनने का गौरव इसी ने प्राप्त किया। हिंदी के भक्ति साहित्य के निर्माण में इस मंदिर का स्थान अक्षुण्य रहेगा।"

चैतन्य महाप्रभु

चैतन्य महाप्रभु प्रभावशाली व्यक्तित्व के स्वामी थे। भक्तिमार्ग में दीक्षित हो जाने के बाद शास्त्रार्थ में उनकी रूचि समाप्त हो गई, उपदेशक बनने की उन्हें याद नहीं रही तथा जयदेव, विद्यापति आदि की

कृतियों, ब्रह्म संहिता तथा लीला शुक बिल्वमंगल के 'कृष्णों कर्णामत' को छोड़कर अपने भावावेश में कुछ पढ़ने का कभी अवसर नहीं मिला। राधा कृष्ण की लीलाओं का स्मरण और भावन, कृष्ण–संकीर्तन एवं हरिबोल का निरन्तर उच्चारण बस यही उनके नैमित्तक कर्म, धर्म, प्रचार या शास्त्रार्थ थे। पर इनके पीछे संवेग की सान्द्रता, आत्मा की गहनता एवं गूढ़तम पुकार थी जिसने उन्हें इतना मोहक और प्रभावशाली बना दिया। इसके अतिरिक्त भक्ति आन्दोलन के अन्य आचार्यों में स्वामी हरिदास, गोस्वामी, हित हरिवंश आदि का भी नाम बड़े गौरव से लिया जाता है।

भक्ति आन्दोलन सामाजिक विषमता को मिटाकर सामाजिक समता का सन्देश देता है। वह जाति–पाँति, ऊँच–नीच, अमीर–गरीब में किसी प्रकार का अन्तर नहीं मानता है। भक्ति आंदोलन वैयक्तिक और सामाजिक शुचिता पर भी बल देता है। चारित्रिक उन्नति का पक्ष लेता है। भक्ति आंदोलन धार्मिक उदारता पर टिका हुआ है। यह धार्मिक सद्भाव का पक्षधर है। ब्रह्मचारों–बाह्याडम्बरों का तीव्र विरोध भक्ति–आंदोलन का मूल लक्ष्य रहा है। इसी लक्ष्य के कारण कबीर आदि संतों ने हिन्दू तथा मुसलमान किसी में कोई भेद नहीं माना है। वे दोनों धर्मावलम्बियों को समझाते हुए कहते हैं कि–

"कह हिन्दू राम पियारा, तुरक कहै रहमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मुये, मरम न काहू जाना।

हिंदी भाषा एवं साहित्य के लिए भक्ति आंदोलन एक वरदान था। इस आन्दोलन से सम्बद्ध कवियों ने लोक भाषा में काव्य की रचनाएँ की है। कबीर ने एकता स्थापना का बड़ा विनम्र और प्रसन्न प्रयास किया है लेकिन कबीर ने संस्कृत को अस्वीकार करते हुए उसे कूप जल माना है। यथा–

"कबिरा संस्कीरत है कूप जल, भाषा बहता नीर।"

भक्तिकालीन साहित्य सच्चे अर्थों में संवेदनशील रहा है। साहित्यकारों का मानस स्वच्छ और उदार था। इसीलिए उनका साहित्य जन–भावनाओं की सहज, प्रवत्तियों, परिस्थितियों, विकृतियों और विडम्बनाओं का एक विशाल शब्द–चित्त है। दूसरे शब्दों में उन्होंने तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र अंकित किया है। भक्तिकालीन आन्दोलित साहित्य, आशावाद और आस्था की भावना संस्थापित करने में सहायक साहित्य है। यह जीवन–शक्ति का अजस्र स्रोत है। इसमें युग–बोध और युग–चेतना का व्यापक रूप प्रतिफलित है। भक्तिकालीन साहित्य रचियताओं ने तत्कालीन समाज को दोषमुक्त कर परिष्कृत बनाने की चेष्टा की है।

भक्तिकालीन काव्य धाराएं : संत, सूफी, राम, कष्ण काव्य

12. संत काव्य धारा वैशिष्ट्य और अवदान

सन्त काव्य में कृत्रिम सौन्दर्य नहीं है, बल्कि उसमें वनराजि का स्वाभाविक सौन्दर्य है। इस काव्य में आध्यात्मिक विषयों की अभिव्यक्ति हुई है। पर वह जन–जीवन में डूबी हुई अनुभूतियों से सम्पन्न है। सन्त काव्य में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव को आत्मसात् किया है, किन्तु इसमें धर्म अथवा साधना की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं है, इस काव्य में जन–जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति अलंकार विहीन सीधी–साधी भाषा में हुई है। सन्त साहित्य साधना, लोक पक्ष तथा काव्य वैभव सभी दष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सन्त–कवियों की विचार सरणि निजी अनुभूतियों पर आधत है। सन्त साहित्य में एक अद्भुत विचारगत साम्य है।

1. **अवतारवाद का खण्डन**: सभी संतों ने राम कृष्ण अथवा अन्य किसी भी रूप में ईश्वर के अवतार लेने को मिथ्या और भ्रामक बताया है। बहुदेववाद का भी खंडन किया है। सभी संतों ने ब्रह्म, विष्णु तथा महेश की इसीलिए निन्दा की है कि वे भी माया ग्रस्त

हैं। इस प्रकार की विचारधारा इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद के भी निकट है तथा शंकर के अद्वैत के अनुरूप भी है हिन्दू–मुस्लिम दोनों जातियों में विद्वेषाग्नि को शान्त करके उनमें एकता की स्थापना के लिए इन्होंने एकेश्वरवाद का संदेश सुनाया–

"यह सिर नवे न राम कूं, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहिं परसिये, यह तन जायो छूट।।"

2. **जाति-पाँति के भेद-भाव का विरोधः** संत कवि जाति–पाँति के नियमों के कट्टर विरोध ी थे। इनकी दष्टि में सब मनुष्य बराबर थे तथा भगवद्–भक्ति का समान अधिकार था।

"जाति पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।

संत सामाजिक क्रान्तिकारी थे। उन्होंने सामाजिक अन्याय का विरोध किया था। छुआछूत, हिन्दू–मुसलमान में विद्वेष और भेदभाव की उन्होंने खुलकर निन्दा की थी और मानव–मात्र को समान मानने की आवाज बुलंद की थी।

3. **रहस्यवादी प्रवत्ति :** संत कवियों की रहस्य भावना सूफी कवियों के रहस्यवाद से भिन्न है, क्योंकि संतों ने आत्मा के संबधों की समानता पति–पत्नी के संबंधों से करते हुए स्पष्ट रूप में यही माना है कि आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए आतुर हो उठती है। संतों की रहस्यात्मक पद्धति भारतीय परम्परा के अनुकूल है। इस रहस्यवाद का मूल आधार अद्वैतवादी चिन्तन है। कबीर के कथनानुसार–

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत् कहो गयानी।।"

संतों के रहस्यवाद पर योग का भी स्पष्ट प्रभाव है जहाँ इंगला, पिंगला और सहसदल कमल आदि प्रतीकों का प्रयोग है। इनमें रहस्यवाद वहाँ भी मिलता है, जहाँ वे उलटबाँसियों के रूप में गुह्य साधना का वर्णन करते हैं।

4. **संत काव्य में युग चेतनाः** संत काव्य की महत्ता प्रतिपादित करते हुए डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने कहा है "संतों का व्यक्तित्व सच्चे अर्थों में संवेदनशील था। उनका मानस स्वच्छ और उदार था। इसीलिए उनका साहित्य जन–भावनाओं की सहज, प्रवत्तियों, परिस्थितियों, विकृतियों, तथा विडम्बनाओं का एक विशाल शब्द–चित्र है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र अंकित किया है। संतकाव्य, आत्मविश्वास, आशावाद और आस्था की भावना संस्थापित करने में सहायक साहित्य है। यह जीवन–शक्ति का अजस्र स्रोत है। इस काव्य का प्रमुख प्रयोजन है– त्रस्त, संतप्त, उपेक्षित, उत्पीड़ित मानव को परिज्ञान प्रदान करना। इसमें जीवन का स्वरूप, विश्लेषण और व्याख्या उपलब्ध होती है। संक्षेप में, निर्गुण काव्य आचरण की पवित्रता का संदेश लेकर जनता के सम्मुख आया।

5. **निर्गुण की उपासनाः** संत काव्य की मूल भावना निर्गुण की उपासना है। उनका निर्गुण बौद्ध साधकों के शून्य से पथक है। वह संसार के प्रत्येक कण में व्याप्त है, वही प्रत्येक साँस में है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, कबीर का कहना है–

"पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान।।"

यद्यपि संतों ने अपने इस निर्गुण निराकार ब्रह्म को पौराणिक नाम ही प्रदान किया है, जैसे राम, कृष्ण, केशव, गोपाल आदि परन्तु इन पौराणिक महापुरूषों से अन्य बातों में वह इनसे नितान्त भिन्न है। कबीर ने इसी भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है–

"राम नाम तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।।"

6. **गुरू की महत्ता**: सभी संतों ने ब्रह्म–साधना के लिए सद्गुरू का पथ–प्रदर्शन अनिवार्य माना है। सद्गुरू ही उन्हें परम तत्व के रहस्य से परिचित करा, उनके हृदय में उसके प्रति अनन्य प्रेम की भावना उत्पन्न करता है। नामदेव ने गुरू महिमा को व्यक्त करते हुए कहा है–

"सुफल जनम मोको गुरू कीना। दुख बिसार सुख अंतर दीना।
ज्ञान जान मोको गुरू दीना। राम नाम बिन जीवन हीना।।"

7. **रूढ़िवाद और मिथ्याडंबर का विरोध**: भक्ति कालीन सभी संतों ने रूढ़ियों, मिथ्याडंबरों तथा अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की है। इसका कारण इन लोगों का सिद्धों और नाथपंथियों से प्रभावित होना है। कबीर ने तिलक, छाया, माला, रोजा, नमाज, योग की क्रिया आदि को व्यर्थ ठहराया और इनके मानने वालों को फटकारा। उनकी भर्त्सना में चिढ या खीझ नहीं, परोक्ष रूप से उपदेश का भाव उभर रहा है–

"दुनिया कैसी बावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय।।"

8. **लोक कल्याण की उत्कट भावना**: संतों की साधना में वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। नाथ सम्प्रदाय की साधना व्यक्तिगत और पद्धति शास्त्रीय थी, जबकि संतो की साधना सामाजिक और पद्धति स्वतंत्र है। इन्होंने जन–समान्य में आत्म–गौरव की दीप्ति भर दी थी, जिसके कारण उन्होंने प्रत्येक प्रकार के अन्याय–अत्याचार का प्रतिरोध करने की शक्ति प्राप्त कर ली थी।

9. **भाषा**: अधिकांश संतों ने अपने काव्य की भाषा में प्रदेश विशेष की बोली के साथ ब्रज, अवधी, राजस्थानी, पंजाबी, हरियाणवी आदि शब्दावली को प्रयुक्त किया है, जिसे अधिकांश विद्वानों ने 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा है। तत्कालीन परिवेश के अनुरूप संत–वाणी की रचना मुख्यतः जनता के अशिक्षित, उपेक्षित और पिछड़े हुए वर्गों के लिये हुई थी। संतों की भाषा अति सरल, कृत्रिमताविहीन और सहज है।

10. **अलंकार**: संत कवि अलंकारवादी भी नहीं थे, किन्तु उनकी कविता में अनेकानेक शब्दगत और अर्थगत अलंकार सहज रूप से आ गये हैं। उपमा, रूपक, दष्टान्त, तद्गुण, स्वभावोक्ति, सहोक्ति, अत्युक्ति, विशेषोक्ति, अन्योक्ति, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, असंगति, श्लेष, यमक, अनुप्रास, काव्यलिंग आदि अलंकार उनके काव्य को चमत्कार प्रदान करते हैं। संतों के रूपक जीवन की सामान्य प्रवत्तियों एवं घटनाओं पर आधारित हैं। कबीर आदि के रूपक और प्रतीक बड़े सशक्त हैं और जीवन के व्यापक क्षेत्र से लिये गये हैं।

संतों का साहित्य लोक–भावना का यथार्थ बिम्ब प्रस्तुत करता है। जीवन में आस्था और विश्वास का संदेश देता है। मध्ययुगीन सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं के भावात्मक निरूपण में यह काव्य अप्रितम है। संतों ने अपने समय के मानव–समाज को दोषमुक्त कर परिष्कृत बनाने की चेष्टा की है।

13. सूफी काव्य धारा : वैशिष्टय और अवदान

भारत में सूफियों का प्रवेश ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के समय हुआ। इन सूफियों की उदार मनोवत्ति और आध्यात्मिक प्रेम–साधना से प्रभावित होकर कुछ सहृदय मुसलमान कवि इनके धर्मानुयायी बन काव्य रचना में प्रवत्त हुए, और इनका काव्य 'सूफी प्रेमाख्यानक काव्य' की संज्ञा से जाना जाने लगा। अन्य देशों के साहित्य की भाँति अरबी–फारसी में भी सर्वप्रथम प्रेमकाव्य और वीरकाव्य की परम्परा उद्भूत हुई, किन्तु इस प्रेम परम्परा में परमात्मा के परम प्रेम और आतंरिक अनुभूतियों का चित्रण नहीं था, अरबी साहित्य की अपेक्षा प्रेम और रहस्य तथा सूफी सिद्धान्त का सम्यक् प्रतिपादन फारसी साहित्य में हुआ है। इस समय हिन्दू और मुसलमानों के बीच सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संघर्ष का आविर्भाव था, इसलिए सूफियों को अपने प्रयास में अपेक्षित सफलता नहीं मिल पा रही थी। वे राजसत्ता के विरोध में पहले ही परास्त हो चुके थे। हिंदी के सूफी कवियों ने भारतीय लोककथाओं, हिंदी भाषा, हिंदी छंद और भारतीय चरित्रों को अपने काव्य का उपजीव्य बनाकर हिन्दू जनता को सूफी सिद्धान्तों पर विमोहित करके उन्हें इस्लाम की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया। हिन्दी के सूफी कवि भारतीयता के पोषक होकर भी इस्लाम के ही समर्थक हैं, क्योंकि यह 'आखिरी कलाम' में उनके वर्णन से ज्ञात हो जाता है। हिन्दू मुसलमान संस्कृतियों के प्रेम–पूर्ण काव्य की अभिव्यक्ति इसमें देखी जा सकती है। हिन्दू धर्म के प्रधान आदर्शों को मानते हुए भी सूफी सिद्धान्तों के निरूपण में मुसलमान साहित्यकारों की कुशलता है। इन दोनों भिन्न सिद्धान्तों के एकीकरण ने प्रेम–काव्य को सजीवता के साथ ही साथ लोकप्रियता भी प्रदान की। फलस्वरूप जिस प्रकार संत–काव्य की परम्परा धार्मिक काल के बाद भी चलती रही, उसी प्रकार प्रेम–काव्य की परम्परा भी धार्मिक काल के बाद भी साहित्य में दष्टिगोचर होती रही है।

सूफी काव्य में वैशिष्ट्य और अवदान की प्रक्रिया इस रूप में देखी जा सकती है–

1. **लोक-पक्ष एवं हिन्दू संस्कृति का अवलोकन**: सूफी प्रेम–काव्यों में हिन्दू लोक–संस्कृति की वैयक्तिकता एवं सामाजिकता का चित्रण हुआ है। हिन्दू लोक–संस्कृति में व्याप्त अन्ध ा–विश्वास, जादू–टोना, मन्नत, मनोतियाँ, तीर्थ, व्रत आदि का चित्रण हुआ है। लोकोत्सव, लोक–व्यवहार लोकाचार तथा लोकनाथ द्वारा हिन्दू लोक–संस्कृति में चली आ रही परम्परागत प्रेम कहानियों की पष्ठभूमि, फारसी की मसनवी शैली तथा इस्लाम धर्म की मान्यताओं को समन्वित करके प्रस्तुत किया गया है। प्रेमकाव्यों में षट् ऋतुओं का वर्णन और बारहमासा आदि का वर्णन भारतीय काव्य–परम्परा के अनुसार हुआ है।

   (i) **नारी के विषय में चित्रण**: सूफियों ने प्रेम द्वारा प्राप्त की जाने वाली सुन्दर नारी को परमात्मा का प्रतीक माना है। प्रेम का प्रमुख पात्र नारी ही वह नूर है जिसके बिना सम्पूर्ण संसार अंधकारमय है। इन कवियों ने नारी का साध्य तथा प्रेम को साधन माना है। नारी का सौन्दर्य ईश्वरीय प्रतिच्छाया है। परशुराम चतुर्वेदी का मत है को "सूफी कवियों ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है जिसके कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की निरी भोग्य वस्तु मात्र नहीं रह जाती। वह उस समय की साध ान–सामग्री भी नहीं कहला सकती जिसमें उसे बौद्ध सहजयानियों ने मुद्रा नाम देकर सहज साधना के लिए अपनाया था। वह उन साधनों की दष्टि में स्वयं एक सिद्धि बनकर आती है और इसी कारण इन प्रेमाख्यानों में उसे प्रायः अलौकिक गुणों से युक्त भी बतलाया जाता है।"

   (ii) **मनोवैज्ञानिक पद्धति**: सूफियों ने ज्ञानमार्गी संतों की भाँति धर्म या जाति का खण्डन नहीं किया बल्कि मनोवैज्ञानिक आधार पर हिन्दुओं तथा मुसलमानों को प्रेम मार्ग में एक समान बताया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर सूफी कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दश्यों को हटाकर पीछे पीछे कर दिया।"

2. **सूफी काव्य में प्रेम-पक्षः** सूफियों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रेम है और प्रेम के वियोग पक्ष को इन्होंने अधिक महत्त्व दिया है। सूफी कवियों ने प्रेम का जो चित्रण किया है, उस पर विदेशी और भारतीय दोनों शैलियों की छाप दष्टिगोचर होती है। जायसी ने फारसी की शैली के अनुसार नायक को प्रेम में विह्ल तथा प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाया है। भारतीय धर्म के अनुसार तो आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पुरूष मानकर पत्नीरूपी आत्मा को पुरूषरूपी परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील माना जाता है। सूफी कवियों ने प्रारम्भ में नायक को प्रियतमा (ईश्वर) की प्राप्ति में प्रयत्नशील दिखाने के बाद उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रमोत्कर्ष को भी दिखलाया।

3. **सूफी काव्य में प्रबन्धात्मताः** सूफी रचनाकारों ने लौकिक प्रेम कहानियों के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की है। इन कवियों ने जिस प्रबन्धात्मकता को अपनाया है वह भारतीय महाकाव्य तथा फारसी 'मसनवी शैली'' का मिश्रित रूप है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मसनवी को अन्योक्ति काव्य की संज्ञा दी है। सूफी कवियों के प्रेमाख्यान एक ही प्रकार के साँचे में ढले हुए लगते है, क्योंकि सभी का लक्ष्य प्रेम तत्त्व का निरूपण करना है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि "कथानक को गति देने के लिए सूफी कवियों ने प्रायः उन सभी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परम्परा से भारतीय कथाओं में व्यवह्त होती रही हैं, जैसे चित्र, दर्शन, स्वप्न, द्वारा अथवा शुक–सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु–पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना, मन्दिर या चित्रशाला में प्रिय युगल का मिलन होना इत्यादि।" सूफी काव्य में व्यवह्त कुछ ईरानी साहित्य की रूढ़ियों का भी वर्णन किया है, जैसे प्रेम–व्यापार में पाटियों और देवों का सहयोग आदि।

4. **सूफी काव्य में धार्मिक सहिष्णुताः** धार्मिक दष्टिकोण से हिन्दूओं के वेदान्त और मुसलमानों के सूफीमत में बहुत साम्य है। मौलाना सैयद सुलेमान नदवी सूफीमत को वेदान्त से प्रभावित मानते है। उनका मत है, "इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मुसलमान सूफियों पर भारत में आने के बाद, हिन्दू वेदान्तियों का प्रभाव पड़ा। इन दोनों धर्म के सिद्धांतों ने प्रेमकाव्य की रूप–रेखा का निर्माण किया। जो प्रेमकथाएँ मुसलमान कवियों द्वारा लिखी गयी है उनमें धार्मिक संकेत अवश्य हैं, पर जो प्रेम–कथाएँ हिन्दू साहित्यकारों द्वारा लिखी गयी है उनमें काव्यत्व और घटना वैचित्र्य ही प्रधान है। इतना अवश्य है कि हिन्दू प्रेम कथाकारों ने मुसलमानों द्वारा चलाई गयी प्रेम–कथा के आदर्शों का पूर्ण रूप से पालन किया हैं।

5. **प्रतीक विधान का मार्मिक चित्रणः** सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं में कुछ शब्दों को सांकेतिक रूप में प्रयुक्त किया है, जिन्हें 'प्रतीक विधान' के अनुसार विशिष्ट सन्दर्भ में विशेष अर्थ के लिए प्रयोग किया है। जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' में इस प्रयोग को देखा जा सकता है; यथा

"तन चितउर मन राउर कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि-पद्मिनी चीन्हा।।"

तात्पर्य यह है शरीर तो चितौड़ है, मन राजा है, ह्रदय सिंघल द्वीप है और बुद्धि पद्मिनी है। इसी प्रकार के प्रेमाख्यानों में प्रतीक–विधान देखा जा सकता हैं। संत काव्य धर्माश्रय एवं राजश्रय से दूर लोकाश्रय में मुक्त रूप में पोषित होने वाली यही एक परंपरा है जिसने तत्कालीन जनता की काव्य–रूचि एवं मनोरंजन की अभिलाषा को रोमांचक आख्यानों द्वारा भर दिया है।

सूफी काव्य धारा के प्रमुख कवियों में मौलाना दाऊद, कुतुबन, जायसी, मंझन, उसमान आदि हुए हैं जिन्होंने अपने काव्य में सूफी काव्य परम्परा को अग्रसर किया है।

सूफी कवियों का कथा क्षेत्र ऐतिहासिक और काल्पनिक दोनों ही है। ऐतिहासिक कथानकों के रूप में रत्नसेन एवं पद्मावती रहे है। सूफी कवियों द्वारा समस्त रचनाएँ एक प्रकार से कथा–रूपक के अन्तर्गत आती है।

इनके प्रेमाख्यानों में नायक–नायिका को सांसारिक संबंधों के प्रति उदासीन दिखाया गया है। इन काव्यों में नायकों पर योगियों का प्रभाव दष्टिगत होता है। नायक को जीवन और नायिका को ब्रह्मा का प्रतीक माना गया है।

सूफी कवियों की लौकिक दष्टि बड़ी सजग थी। अपने आस––पास के विस्तत वातावरण को इन्होंने बखूबी प्रकट किया है। उनकी रचनाओं में भारतीय जीवन एवं संस्कृति का बड़ा सजीव चित्रण हुआ है। भारतीय सामाजिक जीवन के प्रतीक त्योहारों, उत्सवों एवं संस्कारों का इनकी रचनाओं में समावेश देखा जा सकता है।

सूफी कवियों का प्रमुख काव्य आदर्श अध्यात्म विरह एवं प्रेम का निरूपण करना था, किन्तु इसके साथ ही यश की लालसा, लोकहित एवं कल्याण की भावना भी इनके काव्य में समाहित अंग है।

14. राम काव्य धारा : वैशिष्टय और अवदान

राम काव्य जीवन की आदर्श कथा है। जीवन जैसा विविध और व्यापक है रामकथा या राम काव्य भी उतना ही विस्तत और बहुमुखी है। राम काव्य में जीवन अपनी विराटता के साथ व्यक्त हुआ है। भक्तिकाल में ऐसे राम काव्य को निम्नलिखित दष्टिकोणों से देखा गया है।

राम के दो रूप माने गये हैं–एक निर्गुण रूप है तो दूसरा सगुण। निर्गुण रूप से हमारा तात्पर्य देह और दैहिक संबंधों से परे के राम जबकि सगुण राम अवतारी हैं, दशरथ–सुत के रूप में। भक्तिकालीन रामकाव्यधारा के कवियों ने निर्गुण राम की नहीं वरन् सगुण रूप के राम की अवतारणा अपने काव्यों में की है। उन्होंने राम और रामकथा को देशकाल तथा जनजीवन के अनुरूप मानकर प्रस्तुत किया है। रामकाव्यधारा में ऐसे विराट् राम की प्रतिष्ठा हुई है और भक्तों तथा कवियों ने राम के इन्हीं रूपों की अर्चना–वंदना की है। रामकाव्यकारों के लिए राम सर्वत्र विद्यमान रहते हैं।

राम काव्यधारा की दार्शनिक चेतना पर कई दर्शनों का प्रभाव देखा जा सकता है। इसीलिए विद्वान उस पर शंकर के अद्वैतवाद तथा रामानुजाचार्य के विशिष्टता द्वैतवाद का प्रभाव अनुभव करते हैं। रामकथा के कवियों का प्रयोजन रामभक्ति था। वे व्यक्ति के मन की कालुष्य को समाप्त कर देना चाहते थे, इसीलिए रामभक्ति का सहारा लिया। रामभक्त कवियों के उपास्यदेव राम विष्णु के अवतार हैं और परमब्रह्म स्वरूप है। अरण्यकाण्ड में इस प्रकार स्तुति की गई है–

"जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक विरज अज कहिं गावहीं।
करि ध्यान-ग्यान विराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं।।"

इनके राम में शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय है। वे मर्यादापुरूषोत्तम है और आदर्श के प्रतिष्ठापक है। यही कारण है कि राम और सीता के नाम पर परवर्ती साहित्य में उच्छंखल प्रेम उस रूप से चित्रित नहीं हुआ जैसा की राधा और कृष्ण के नाम पर।

1. **राम काव्य धारा में समन्वयात्मकता**ः राम काव्य की समन्वयात्मक विचारधारा अत्यन्त उदार है। जिसमें ज्ञान, भक्ति, धर्म तथा कर्म का सुन्दर समन्वय तो है ही, साथ ही निर्गुण तथा सगुण में भी एकरूपता प्रकट होती है। तुलसीदास कहते हैं–

"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।"

2. **राम काव्य में लोक मंगल की भावना**: राम भक्ति साहित्य में लोक मंगल की भावना को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इसी भावना से राम को आदर्श लोक–सेवक, आदर्श गहस्थ एवं आदर्श राजा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आदर्श की प्रतिष्ठा राम के जीवन का अर्थ और इति है

**"परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।"**

राम भक्ति काव्य की प्रमुख विशेषता यह भी है कि उसमें साधारण लोगों के कल्याण की भावना को सर्वोच्च स्थान मिला है। लोक मंगल की भावना से ओत–प्रोत होकर राम को आदर्श लोक–सेवक तथा आदर्श गहस्थ आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सारे राम काव्य का केन्द्रीय भाव आदर्श समाज की स्थापना तथा लोक कल्याण की भावना को प्रसारित करना है। तुलसीदास ने रामराज्य की आदर्श कल्पना के लिए ही राम को आदर्श पुत्र तथा आदर्श राजा के रूप में स्थापित किया है। कौशल्या जैसी आदर्श माता, लक्ष्मण तथा भरत जैसे आदर्श भाई, सीता जैसी आदर्श पत्नी, हनुमान जैसे आदर्श सेवक एवं भक्त तथा सुग्रीव जैसे आदर्श मित्रादि की कल्पना एवं स्थापना से लोक संग्रह की भावना ही स्पष्ट होती है। राक्षसों को अर्थात् अत्याचारियों का नाश करके आदर्श समाज की स्थापना करना ही राम काव्य की विशेषता है।

3. **आदर्श पात्रों का चरित्र चित्रण**: राम भक्ति साहित्य में ऐसे पात्रों को विशेष महत्त्व दिया गया है जो अपने सदाचार से लोक में मर्यादा तथा आदर्श की स्थापना करने वाले हो। राम काव्य की यह विशेषता है कि उसमें सत् और असत्, सज्जन तथा दुर्जन, अच्छे और बुरे, सतोगुणी रजोगुणी, तथा तमोगुणी सभी प्रकार के पात्रों का चित्रण किया गया है। अन्त में असत्य पर सत्य की अथवा 'रावणत्व' पर 'रामत्व' की विजय दिखाई गई है। अन्त में दुर्जनों को दण्ड तथा सज्जनों को सफलता मिलती दिखाई गई है। राम को स्वयं ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी मानव के रूप में लीला करते हुए दिखाकर तुलसी ने सिद्ध किया है कि अन्त में रामत्व की ही विजय होती है क्योंकि पापियों का संहार करने के लिए राम को नर रूप धारण करना पड़ता है।

4. **जगत तथा जीवात्मा संबंधी विचार**: राम काव्य में सारे संसार को ही राम तथा सीता युक्त माना है और इसीलिए तुलसीदास ने कहा है–

"सिया राम मय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि-जुग पानी।"

यह सारा संसार ही राम और सीता की लीला–स्थली है। राम परम पुरूष चेतन सीता प्रकृति है। पुरूष तथा प्रकृति से ही यह सारी सष्टि व्याप्त है। जीवात्माएँ उसी परम पुरूष का अंश है।

5. **वैधी भक्ति का अनुसरण**: रामभक्ति काव्य ऐसी भक्ति का अनुसरण करता है जिसे शास्त्रीय शब्दावली में 'वैधी भक्ति' माना जा सकता है। वैधी भक्ति में श्रद्धा और प्रेम का समन्वय होता है तथा भागवत पुराण में वर्णित नवधा भक्ति के प्रायः अधिकांश लक्षण मिलते है। कीर्तन–भाव से जो नियम बनाये जाते हैं उन्हें 'विधि' माना जाता है और विधि ा के अनुसार की गई भक्ति को वैधी भक्ति कहते है। वैधी भक्ति में साधक या भक्त शरीर, मन, आत्मा, प्रकृति और समाजगत अनुशीलों द्वारा भगवान का भजन करते हैं। राम भक्तों के इष्ट 'राम' का शील, शक्ति और सौन्दर्य ही ऐसा है जिस पर साधक या भक्त अपने तन–मन और आत्मा से मुग्ध हो जाता है और अपने को राम का सेवक या दास समझकर भक्ति करता है, इसी कारण तुलसी की भक्ति को दास्य भाव की भक्ति भी माना जाता है क्योंकि तुलसीदास ने कहा है–

"सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।"

वैधी भक्ति में हरि–कीर्तन और सत्संग का विशेष महत्त्व होता है, इसीलिए कहा गया है–

"बिनु सत संग बिबेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।"

इसी कारण राम भक्ति का अनुसरण करने वाले भक्तों तथा कवियों ने 'राम नाम' के कीर्तन तथा सत्संग करने को भक्ति का एक साधन बताया है। राम भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है कि सामाजिक प्रतिबद्धता और मूल्य–बोध को प्रबल प्रेरणा। यह निश्चित है कि जिस समय बाल्मीकि रामायण की रचना हुई होगी, उस समय समाज व्यवस्था के आधारभूत आदर्शो की स्थापना की बहुत बड़ी आवश्यकता अनुभव की जाती रही होगी। तब से आदि रामायण सभी आदर्शनवेता भक्तों और भक्तकवियों की प्रेरणा का अक्षय स्रोत बनी रही है। इसका चरमोत्कर्ष तुलसी–काव्य में मिलता है। तुलसी ने धर्म की जीवन–सापेक्ष व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत की है और आचार दर्शन या शील सौन्दर्य और कर्म–सौन्दर्य को ही धर्म कहा है। धर्म सभी सत्कर्मों की समष्टि है, धर्म जीवन की व्यापक व्यवस्था है यह मूल्यबोध विष्णुदास की रामायण–कथा में भी देखने को मिलता है। सूरदास के रामावतार संबंधी पदों में भी पवित्रता सतीत्व और वीरता के उदात्त की अभिव्यक्ति हुई है।

राम काव्य परम्परा की अन्य विशेषता एवं अवदान पाप का सक्रिय प्रतिरोध और शौर्य है। समूचे भक्ति–काव्य में जिसे सच्चे अर्थो में शक्ति काव्य कहा जा सकता है, वह रामकाव्य ही है। इस काव्य में पाप और पतन के विरूद्ध सक्रिय प्रतिरोध और संघर्ष निरूपित किया गया है। रामभक्ति काव्य की धारा में सामाजिक संवेदना बड़ी गहरी है। सामाजिक दष्टि से रामभक्ति काव्य की महत्ता विशेष रूप से रही है। जिस समय रामभक्ति काव्य का प्रणयन हो रहा था उस समय का समाज अनेक प्रकार की भ्रांतियों का और रूढ़िवादिता का सामना कर रहा था। मुगलों के शासन के कारण भारतीय संस्कृति खतरे में पड़ी थी। ऐसे विषम समय में रामभक्ति काव्य प्रणेताओं ने भारतीय समाज को पुनर्गठित किया।

प्रकृति को मानव की चिर सहचरी माना जाता है। रामभक्ति के कवियों ने राम की उपासना करते हुए प्रकृति के अनेक रूपों को अपनी रचनाओं में प्रर्याप्त स्थान प्रदान किया है। इन कृतियों में वन, जंगल, पहाड़ ग्राम, जन–जीवन, सरिता, आदि का समावेश किया है।

रामकाव्य धारा का हिंदी साहित्य जगत् में विशेष स्थान है। रामकाव्यधारा में उपास्य श्री राम हैं जिनका व्यक्तित्व और चरित्र अति उत्तम है। राम शील व संकोच, मर्यादा और महानता की पराकाष्ठा पर आरूढ है। उनके चरित्र में भारतीय संस्कृति–हिन्दू धर्म के दर्शन होते हैं। रामभक्ति काव्य मानवीय मूल्यों की मंजूषा है।

रामभक्ति काव्यधारा की सबसे बड़ी उपलब्धि उसकी समन्वय साधना रही है। समन्वय की अंतत चेष्टा के माध्यम से तुलसी आदि कवियों ने उस समय के मानव–मानव को एक करने के प्रशस्त कार्य को अंजाम दिया। राम को आश्रय बनाकर कवियों ने जीवन–यापन का सफल संदेश दिया है।

15. कृष्ण काव्य धारा : वैशिष्ट्य और अवदान

कृष्ण काव्यधारा के वैशिष्ट्य और अवदान को स्पष्ट जानने के लिए इसे हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं–

1. वस्तुगत वैशिष्ट्य और अवदान
2. भावगत वैशिष्ट्य और अवदान
3. शिल्पगत वैशिष्ट्य और अवदान

वस्तुगत वैशिष्ट्य और अवदान

1. **निर्गुण के स्थान पर सगुण की आराधना**: कृष्ण काव्य धारा के कवियों ने निर्गुण के स्थान पर सगुण ब्रह्म को प्रमुखता दी है क्योंकि साधना के स्तर पर उसे ज्ञानी ही जान सकते है। भक्तों में ज्ञान का अभाव होता है। वह आँखों के सामने नहीं दिखाई पड़ता। सगुण ब्रह्म निरन्तर उनके सामने दिखाई पड़ता है। इसलिए उसकी साधना सरल होती है।

2. **श्रीकृष्ण का मानवी और अवतारी रूप**: इस काव्य धारा के रचनाकार प्रभु श्री कृष्ण के दो रूपों का चित्रण करते हैं–मानवी और अवतारी। मानवी रूप में वे नन्द यशोदा और देवकी–वासुदेव के पुत्र है। अवतारी रूप में वे एक ईश्वर हैं।

3. **तत्कालीन समाज और संस्कृति**: इस युग के काव्यकारों ने तत्कालीन समाज और उसमें फलती–फूलती संस्कृति का यथार्थ वर्णन किया है।

भावगत वैशिष्ट्य और अवदान

1. **वात्सल्य और श्रंगार रस** : कृष्ण काव्य धारा के सभी रचनाकारो ने वात्सल्य और श्रंगाररस को प्रमुखता दी है। वात्सल्य प्राणिमात्र के मन की एक वत्ति होती है। वात्सल्य वर्णन में कृष्णभक्त कवियों ने श्री कृष्ण के बाल्यकाल से लेकर किशोरावस्था की विभिनन क्रीड़ाओं का सफल चित्रण प्रस्तुत किया है। इसमें सूर का वात्सल्य सबसे निराला कहा जा सकता है। यह वर्णन जितना यथार्थ है उतना की सहज एवं मार्मिक।

2. **विरहानुभूति चित्रण**: कृष्ण काव्य धारा के रचनाकारों ने वियोग श्रंगार के अन्तर्गत विरह की विभिन्न भूमियों का सजीव रूप चित्रित किया है। विरह की अनेकों दशाएँ इस काव्य में प्रस्तुत की गई है। इन कवियों का विरह संवेदना जन्य है।

शिल्पगत वैशिष्ट्य और अवदान

1. **मुक्तक काव्य-रचना**: कृष्ण काव्य धारा के रचनाकारों ने प्रबंध रचनाओं का निर्माण न करके मुक्तक काव्यों का निर्माण किया है। कीर्तन भजन–जन्य आतुरता इनके काव्य रूपों में देखी जा सकती है। इन रचनाकारों ने पदों की रचना की है।

2. **बिम्ब तथा प्रतीक विधान**: कृष्ण काव्यकारों ने बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग रसानुभूति के लिए किया है। भ्रमरगीत में सन्दर्भित पदों में 'भ्रमर' का प्रयोग प्रतीक रूप में किया गया है।

कृष्ण भक्ति काव्य में दार्शनिकता

कृष्ण भक्ति काव्य का मुख्य उद्देश्य तो शंकर के अद्वैत दर्शन का खण्डन करके सगुण कृष्ण भक्ति की स्थापना करना है। कृष्ण भक्ति साहित्य की दार्शनिक पष्ठभूमि स्वामी बल्वभाचार्य तथा स्वामी हितहरिवंश के राधावल्लभी सम्प्रदायों से निर्मित हुई 'पुष्टिमार्गीय', प्रेमा रागानुगा तथा माधुर्य भाव की मधुरा भक्ति माना है। उस भक्ति की दार्शनिक मान्यताएँ तो भागवत पुराण में वर्णित पुष्टिमार्गी जीवन दर्शन है।

कृष्ण काव्य के वैशिष्ट्य और अवदान को इस रूप में प्रकट किया जा सकता है।

1. **भक्ति का स्वरूप प्रेम**ः कृष्ण भक्ति का आधार प्रेम है। इस प्रकार उनकी भक्ति को प्रेमा–भक्ति अथवा रागानुगा–भक्ति माना जाता है। जब कृष्ण के प्रति अगाध प्रेम अथवा आसक्ति हो जाती है, तब स्वाभाविक रूप से सांसारिक भोग–विलास आदि विषयों से विरक्ति हो जाती है। अतः कृष्ण भक्ति में प्रवत्ति तथा निवत्ति दोनों वत्तियाँ ही कलात्मक रूप में समन्वित दिखाई देती हैं कृष्ण–भक्तों की ऐसी 'प्रेमा–भक्ति' वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य आदि तीनों रूपों को धारण करने वाली त्रिवेणी है। वास्तव में यदि मनोवैज्ञानिक तथा काव्य शास्त्रीय दष्टि से देखा जाये तो उपर्युक्त तीनों भाव श्रंगार रस के तीन पथक–पथक स्थायी भाव हैं। जैसे पुत्र–विषयक रति से वात्सल्य रस, मित्र–विषयक रति से श्रंगार एवं माधुर्य रस तथा गुरू विषयक रति से भक्ति रस निष्पन्न होता है। प्रेम का चरम रूप माधुर्यमयी मधुरा भक्ति में देखा जा सकता है क्योंकि ऐसी स्थिति में भक्त तथा भगवान् में कोई भेद नहीं रहता है।

2. **जीव तथा ब्रह्म के रूप की चर्चा**ः आचार्य बल्भ के दार्शनिक विचारों के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जीव और जगत् उसी ब्रह्म के सत् और चित्त अंश है। वही ब्रह्म आनन्दमय श्री कृष्ण के रूप में नित्य लीलामय है। वल्लभ का सिद्धान्त दार्शनिक शब्दावली में शुद्धाद्धैतवाद माना जाता है। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म सगुण है जो साक्षात् कृष्ण के रूप में देखा जा सकता है। कृष्ण पूर्ण रूप से सोलह कला पूर्ण रसमय है। श्रीकृष्ण का धाम गोलोक है तथा गोपों, गोपियों, यमुना, वन्दावन, लताएँ, कुंजे आदि सभी जगतवादी जीवात्माएँ कृष्ण का ही अंश है। राधा–कृष्ण ही इष्टदेव हैं।

3. **वेद-मर्यादा तथा कर्मकाण्ड पर चर्चा**ः कृष्ण भगतजनों का जीवन–दर्शन है कि समस्त प्राणी चेतना का रागमय अथवा कृष्णमय हो जाना ही सच्चा ज्ञान है, जो प्रेमा–भक्ति से सभी कृष्ण–भक्तों को सुलभ है। इसलिए कृष्ण भक्त वैदिक मर्यादा जप, तप, योग तथा कर्मकाण्ड को महत्त्व न देकर केवल 'प्रेम' पर बल देते है।

4. **निवत्ति और प्रवत्ति के बारे में विचार** : बल्लभाचार्य द्वारा स्थापित दर्शन में निवत्ति तथा प्रवत्ति दोनों ही जीवन मार्गो का अनुपम योग है। मुख्य रूप से प्रवत्ति का पोषक होते हुए भी स्वाभाविक निवत्ति को अपनाया जाना कृष्ण–भक्तों की विशेषता है। मनोविकारों और मन की सभी प्रवत्तियों को कृष्णोन्मुख करना तो प्रवत्ति मार्ग है तथा कृष्णलीला उस प्रवत्ति मार्ग का साधन है। स्वाभाविक रूप में जब भक्त प्रेम से उन्मुक्त होकर कृष्णमय हो जाता है तो वह संसारी क्रियाकलापों से विरक्त हो जाता है जिसे निवत्ति मार्ग कहा है। नवधा–भक्ति में प्रवत्ति तथा निवत्ति दोनों मार्गों का सम्मिश्रण है।

5. **श्रीकृष्ण के विभिन्न नामों का उल्लेख**ः श्री कृष्ण जो स्वयं ब्रह्म–स्वरूप है उनका सौन्दर्य अद्वितीय है। उन्हें लीलाचारी, नटवर नागर, श्याम मुरारी, गोविन्द, गिरिधर, घनश्याम, राध ेश्याम, बांकेबिहारी, रसीले कृष्ण आदि अनेक नामों से संबोधित करते हुए कृष्ण भक्ति में नाम स्मरण का भी विशेष महत्त्व है, क्योंकि भक्त को अपनी इच्छानुसार जो नाम प्रिय लगे उसी का स्मरण करे।

6. **सत्संग तथा गुरू की महिमा**ः कृष्ण–भक्ति दर्शन में सत्संग, कीर्तन, संगीत तथा रासलीलाओं पर विशेष बल दिया जाता है। गुरू की महिमा तो सभी कृष्ण भक्तों ने गाई है। गुरू–कृपा से ही भक्त, प्रेमा–भक्ति में अनुरक्त होता है।

7. **लोकमंगल की अपेक्षा लोकरंजन को प्रमुखता**: पुष्टिमार्गीय कृष्ण–भक्तजनों तथा अन्यों ने लोकमंगल की भावना को अधिक महत्त्व नहीं दिया जितना महत्त्व उन्होंने लोकरंजन को दिया है। लोकरंजन की भावना पर अधिक बल इसलिए भी दिया गया क्योंकि प्रवत्ति मार्ग के अनुसार लोक मनोरंजन, ऐन्द्रिय आकर्षण तथा तुष्टि से ही भक्त को प्रेम का अद्भुत आनन्द मिलता है।

8. **रासलीलाओं के भिन्न-भिन्न रूपों की चर्चा**: कृष्ण भक्ति के क्षेत्र में कृष्ण की जीवन संबंध ाी अनेक प्रकार की लीलाओं को चित्रित करके पुष्टिमार्गीय जीवन दर्शन की ख्याति फैलाई है। इसीलिए, भगवान कृष्ण को गोपियों के साथ नत्य करते हुए भी दिखाया जाता है और ग्वालों के साथ माखन–चोरी करते हुए भी दिखाया है। लगभग कृष्ण सभी लीलाएँ करके भी उनसे निर्लिप्त रहते हैं। इनके अनेक रूपों का चित्रण इस प्रकार किया जा सकता है–

   (i) **ब्रह्म को सगुण तथा साकार रूप में मानना**: कृष्ण भक्ति साहित्य में सगुण ब्रह्म की उपासना करने ही रीति है। कृष्ण भक्तों की मान्यता है कि कृष्ण ही ब्रह्म अथवा ईश्वर है जो साकार एवं सगुण है। कृष्ण की नित्य अजर–अमर है। अतः कृष्ण काव्य की यही प्रमुख विशेषता है कि उसमें कृष्ण एवं राधा को ही इष्ट माना है।

   (ii) **अवतारवार**: कृष्ण–भक्तों में विष्णु के अवतार कृष्ण को दुष्टों का संहार तथा सज्जनों का उद्धार करते हुए दिखाने की प्रवत्ति है। जब अधर्म तथा पाप चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं तब बैकुण्ठ–धाम से विष्णु को कृष्ण के रूप में अवतार लेना पड़ता है। अपनी लीला का प्रदर्शन करना भी अवतार का स्वभाव है।

   (iii) **प्रेम-भाव का निरूपण**: कृष्ण–भक्तों ने भक्ति का आधार एकमात्र प्रेम तत्त्व ही माना है। प्रेम की उच्चतम कोटि मधुरा भक्ति है। कृष्ण के प्रति प्रकट किया गया सच्चा प्रेम ही शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है जो भक्तों की भावनानुसार 'वात्सल्य' 'संख्य' तथा 'माधुर्य' भाव में परिणत होता है। इसीलिए शृंगारी भाव ही प्रधान है।

   (iv) **ब्राह्याडम्बरों का विरोध**: कृष्ण भक्ति में प्रेम का पंथ ही अनूठा रहा है। इसमें जप, तप, योग तथा वैदिक कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं। प्रेम को किसी ब्रह्याडम्बर की आवश्यकता नहीं, वह तो हृदय की अनुभूति कही जा सकती है।

   (v) **वात्सल्य, शृंगार तथा शान्त रस की प्रधानता** : सम्पूर्ण कृष्ण काव्य में प्रमुख रूप से वात्सल्य शृंगार तथा माधुर्य जन्य शांत रस की अभिव्यक्ति मिलती है।

   (vi) **संगीत की ओर प्रवत्ति** : कृष्ण–भक्ति साहित्य में संगीत–माधुरी को महत्त्व प्रदान करने के लिए ही अधिकांश भक्ति पद राग–रागिनियों में निबद्ध है। सूरदास, नन्ददास तथा मीरा के पद संगीतमय साहित्य के प्रमाण है।

   (vii) **प्रकृति चित्रण**: कृष्ण भक्ति साहित्य भावात्मक काव्य है। ब्रह्म प्रकृति का चित्रण इसमें या तो भाव की पष्ठभूमि में हुआ है या उद्दीपन भाव के लिए। डा० ब्रजेश्वर ने लिखा है, "दश्यमान जगत् का कोई भी सौन्दर्य उनकी आँखों से छूट नहीं सका। पथ्वी, आकाश, जलाशय, वन–प्रान्त तथा कुंज–भवन की सम्पूर्ण शोभा इन कवियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में निःशेष कर दी है।"

   (viii) **काव्य रूप**: कृष्ण काव्य का सजन प्रायः मुक्तक शैली में हुआ है। कृष्ण काव्य में एक प्रबन्ध काव्य भी मिलता है, जिसकी रचना शुद्ध ब्रजभाषा में हुई। ग्रंथ का नाम है, 'ब्रज विलास' नन्ददास के भँवरगीत, रास पंचाध्यायी आदि में कथात्मकता की मनोवत्ति देखी जा सकती है।

16. भक्ति कालीन गद्य साहित्य

भक्तिकालीन समय में गद्य साहित्य के क्षेत्र में भी उत्थान का काल रहा है। इसमें अनेक रचनाकारों ने अपनी कृतियों से इस काल को सुशोभित किया है। भक्ति कालीन गद्य साहित्य को हम चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं–

1. ब्रजभाषा में रचित गद्य साहित्य
2. खड़ीबोली में रचित गद्य साहित्य
3. दक्खिनी में रचित गद्य साहित्य
4. राजस्थानी में रचित गद्य साहित्य

1. **ब्रजभाषा में गद्य साहित्यः** भक्तिकालीन समय में गद्य साहित्य में उल्लेखनीय कार्य किया गया। इसमें इतिहास, भूगोल, सामाजिक, संदर्भित विषयों में कार्य किया गया। गद्य के इतिहास में गोरखपंथी ग्रंन्थों की चर्चा मिलती है।

2. **खड़ी बोली में गद्य साहित्यः** उत्तर भारत में खड़ी बोली में रचित गद्य रचनाओं का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। प्रामाणिक रचनाएँ 17 वीं शताब्दी से प्राप्त होती है। इस काल की जो रचनाएँ मिलती हैं, वह इस प्रकार हैं–कुतुबशतक, भागलु पुरान, गणेस गोसठ, पोथी सचुसुंड।

3. **दक्खिनी में गद्य साहित्यः** दक्खिनी का अविर्भाव सूफियों और संतों के द्वारा हुआ। इन रचनाओं का विषय प्रेमाख्यानक रहा है। इसका आदि कवि गेसूदराज बन्दानवाज माना जाता है। दक्खिनी गद्य की कृतियों में वजही कृत 'सबरस' का विशेष महत्त्व रहा है। इसका गद्य कवित्वमय है।

4. **राजस्थानी में गद्य साहित्यः** राजस्थानी का गद्य इतिहास काफी पुराना है। मारवाड़ी बोली में गद्य का पुष्कल साहित्य प्राप्त होता है। इस गद्य में अनेक विषयों को अपने वर्णन का विषय बनाया है। राजस्थानी गद्य की प्रमुख भक्तिकालीन गद्य कृतियाँ–तत्त्व विचार पथ्वीचन्द्र चरित्र, धनपाल कथा, अंजनासुंदरी कथा' आदि है। इन कृतियों में कुछ कृतियां जैन धर्म से संबंधित भी रही हैं।

भक्तिकालीन राजस्थानी गद्य की और भी रचनाएँ है। उनमें से कुछ रचनाओं के नाम ये हैं–आदिनाथ चरित्र, कालिकाचार्य कथा, श्रावक व्रतादि अतिचार, कल्याण मंदिरस्रोत की अवचूरी यानी व्याख्या, गणितसार, मुग्धावबोध मौक्तिक टीका (टीका ग्रंथ) कोकशास्त्र बालावबोध, उक्ति संग्रह भाष्य आदि।

राजस्थानी मारवाड़ी भाषा की गद्य रचनाएँ भी शामिल की जाती है उनमें वंशावली, पट्टावली, पीढ़ावली रचनाएँ ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेखपरक हैं। कुछ आज्ञापत्र, ताम्रपत्र, प्रशस्ति पत्र भी गद्य से मिलते है। संस्कृत–प्राकृत ग्रंथों की व्याख्याएं मिलती है। 'बेली किसन रूक्मणी री टीका' इस काल की प्रसिद्ध टीका है। ये सब गद्य रचनाएँ अललित गद्य की कोटि की है। ललित गद्य की रचनाएँ भी है पर वे परिमाण में कम है।

भक्तिकालीन गद्य साहित्य की विशेषताएँ

1. भक्तिकालीन गद्य साहित्य की प्रवत्ति प्रायः आदिकालीन गद्य साहित्य की तरह पद्यानुकारी गद्य जैसी रही है। पद्य में तुक का जो महत्त्व था वह इस समय के गद्य में भी देखने में आता है। एक तरह से यह पद्य को गद्य की ओर ले जाने का प्रयास है; जैसे "महाराज

मांगियों सो पाओ" गद्य साहित्य के जो अंश मिलते है वे गद्य खंडो के रूप में ही जानने चाहिए। सम्पूर्ण गद्य रचना रचने का अभी चलन नहीं हुआ था। जो रचनाएँ ऐसी मिलती है जो कि गद्य में है और पूरी रचना गद्य में है, उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। इस तरह की एक रचना 'चंद छंद बरनन की महिमा' है, 'इसके रचयिता गंग कवि है। वस्तुतः यह पथ्वीराज रासो की महत्ता को प्रतिपादित करने के उद्देश्य से लिखी गई परवर्ती रचना है। इसकी प्रामाणिकता में संदेह है।

2. **भक्तिकाल के गद्य के कई रूप मिलते हैं**: ब्रजभाषा गद्य, खड़ी बोली गद्य, दक्खिनी गद्य, राजस्थानी गद्य आदि। इनमें से ब्रजभाषा गद्य की पंडिताऊ छवि, दक्खिनी गद्य की उर्दू—फारसी मिश्रण पद्धति खड़ी बोली की गद्य कृतियाँ बहुत सी पद्य रचना के अनुवादवाली है। छः राजस्थानी गद्य मुख्य रूप से कथा, वर्णन, वचनिका, पत्रावली, गुर्ववाली, बलावबोध आदि के रूप में बढ़ी है।

3. भक्तिकालीन गद्य के सन्दर्भ में ऐसी रचनाएँ भी आ गई है जिनका उल्लेख दूसरे विद्वानों ने अपभ्रंश की गद्य रचनाओं के संदर्भ में किया है। उदाहरण के लिए पथ्वीचन्द्र नामक कृति है जिसके रचयिता माणिक्य चन्द्र सूरि है। इसका मतलब यह है कि अपभ्रंश का चलन अभी तक वर्तमान था। वह धीरे—धीरे कम हो रहा था। इसलिए बहुत से विद्वान अपभ्रंश और पुरानी हिंदी में स्पष्ट अन्तर करने में अधिक सक्षम रहे हैं।

4. भाषा की वैज्ञानिक दष्टि से भक्तिकाल का गद्य बड़े महत्त्व का है। किस प्रकार संहित भाषा व्यवहित बनती है उसका संश्लिष्ट पद—क्रिया रूप सरलता की ओर है और उसका पूर्व रूप इस काल के गद्य में मिलता है बहुत से शब्द एकदम संस्कृत विभक्तियों से युक्त होकर प्रयुक्त हुए है और बार में उनकी वे विभक्तियाँ घिसकर वर्तमान हिंदी रूप में ढली है। महादेव गोरषगुष्टि में आये ऐसे शब्द इस तरह के उदाहरण हैं—उतपतते, कथन्ति, कथित, भ्रमते। उतपतते शब्द मूलरूप से संस्कृत की आत्मनेपदी धातु के रूप का है। कथन्ति संस्कृत के कथयन्ति क्रिया रूप में संक्षिप्तीकरण है। कथित, भ्रमते भी संस्कृत के विभक्ति युक्त शब्द है।

5. भक्तिकालीन गद्य में ललित गद्य का समावेश अपेक्षाकृत अधिक होना प्रारंभ हो गया था। जो गद्य वंशावली पत्र, टिप्पणी, व्याख्या, व्याकरण, गणित अनुवाद आदि के रूप में बिखरा हुआ था वह परिमाण में अधिक था पर ललित गद्य भी अपना स्वर उठा रहा था।

6. इस समय के गद्य के साथ पद्य का समावेश कई रूपों में देखने में आता है कुछ रचनाएँ ऐसी है जो पूर्णतः गद्य की हैं। दूसरी तरह की रचनाएँ गद्य के साथ पद्य को भी साथ—साथ लेकर चली हैं। तीसरी पद्य प्रधान ऐसी रचनाएँ है जिनमें थोड़ा बहुत गद्य भी आता चला जाता है।

7. गद्य के विकास की दुर्बलता में विद्वानों ने पद्य के झुकाव को कारण माना है। पद्य प्रायः कंठ करने में सरल होता है। इसलिए पद्य को अधिक प्रमुखता मिलती रही है और इस जमाने तक साहित्य को कंठस्थ करने की परम्परा बराबर बनी हुई थी। अतः गद्य की ओर झुकाव कम रहा।

8. दक्खिनी हिंदी की तरह दक्खिनी गद्य भी उर्दू फारसी मिश्रित रूप में इस काल में देखने में आता है। इसके रचयिता मुख्यतः वे मुसलमान विद्वान थे जिनका हिंदी से संबंध था या जो हिंदी प्रदेश से दक्खिन में जा बसे थे।

9. गद्य खंड के ऐसे अनेक नमूने हैं जो किसी एक भाषा के अनिवार्यतः नहीं लगते। ब्रजभाषा, खड़ीबोली, राजस्थानी और अपभ्रंश के मिले—जुले गद्य खंड इस समय देखने में आते है।

उनके अलगाव की स्थिति धीरे–धीरे बदलने की ओर थी पर यह बदलाव मंद मालूम पड़ता है।

भक्तिकाल में साहित्यिक (ललित) गद्य बहुत कम परिमाण में रचा गया। इस समय की ललित ग्रन्थ रचनाओं की संख्या बीस से अधिक नहीं है। भक्तिकालीन सामान्य गद्य का भी परिमाण विशाल नहीं कहा जा सकता हैं। बौद्धिक व्यावहारिक जीवन के अपेक्षाकृत कम विकसित होने, तत्कालीन जन–मानस के आज की अपेक्षा अधिक भावुक, काव्यप्रिय, धर्मनिष्ठ होने भक्ति–आन्दोलन की तीव्रता, संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश की पथ प्रश्रय, प्रवत्ति, प्रेम का अभाव, कागज की कमी, साहित्य को कण्ठस्थ करने की परम्परा और विभाषाओं में व्याख्यानुवाद की प्रवत्ति प्रबल न होने के कारण गद्य का विकास भक्तिकाल में नहीं हो सका।

17. भक्तिकालीन काव्य की उपलब्धियाँ

भक्तिकालीन समय हिंदी साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण काल रहा है। हिंदी के उच्चकोटि के और बड़े महत्त्व के कवि इस काल में हुए हैं। कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा, रसखान आदि सभी इसी काल की शोभा थे। अपनी प्रतिभा और काव्य सर्जना की असीम प्रभावशाली दक्षता के कारण उन्होंने इस काल को सुशोभित किया है। अपने–अपने क्षेत्र के ये सर्वाधिक प्रभावशाली कवि हुए है। काव्य संबंधी अनेक विशेषताओं के साथ–साथ इनमें भक्ति की अतल स्पर्शी गंभीरता भी देखने में आती है। भक्ति और काव्य का इतना उच्चकोटि का व्यामिश्रण और किसी काल में नहीं मिलता। भारतीय संस्कृति का यह मूल गुण रहा है कि यहाँ लौकिकता से पारलौकिकता को ऊँचा माना जाता रहा है। धर्म और अध्याय में बढ़े हुए मन्त्रपूत आर्ष–चक्षु ऋषियों के सामने सम्राट लोग झुकाते रहे है। भक्तिकाल में भी ऐसी ही पाते हैं। पहुँचे हुए सन्त–साधुओं के सामने राजा और राजनेताओं ने अपना सिर झुकाया है। उनकी कृपा की याचना की है। अकिंचनता के सामने सम्पन्नता का ऐसा झुकाव और किसी काल में देखने में नहीं आता। इतनी अधिक गंभीरता और आध्यात्मिक उच्चता के होते हुए भी ये कवि अपने को सदैव, दीन, हीन, तुच्छ और कमजोर समझते रहे।

रामभक्ति काव्य के महात्मा तुलसीदास ने तपस्वी बाल्मीकि द्वारा प्रचलित रामकथा को अपने ढंग से प्रस्तुत करके रामकथा का सर्वजन सुलभ स्वरूप पैदा किया। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की–विनयपत्रिका, रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली आदि उनमें से प्रमुख हैं। सभी में राम की कथा को तरह–तरह से बढ़ाया गया है। भगवान के अवतार की कथाश्रित व्याख्या करके राजा रंक, गहस्थी भिखारी, ऊँच–नीच, अच्छे–बुरे, बालक–वद्ध, स्त्री–पुरूष सबके लिए भगवान की पूजा अर्चना, पाठ रामायण, सेवा सत्संग का मार्ग, खोल दिया। शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के सन्यास मार्ग की प्रतिष्ठा थी। उसे स्वीकार न करके रामानुजाचार्य सम्मत विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की तुलसी ने व्यावहारिक सरलता प्रस्तुत की। पतंजलि ने अपने व्याकरण महाभाष्य में एक श्रुति वाक्य का उल्लेख किया है–

"एकः शब्दः सम्यकः ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके काम धुग्भवति।"

अर्थात एक ही शब्द यदि अच्छी तरह से जान लिया जाए और उसका ठीक–ठीक प्रयोग कर दिया जाए तो वह स्वर्ग में भी और इस लोक में भी मनवांछित फलों को देने वाला होता है। ऐसा लगता है गोस्वामी तुलसीदास ने एक शब्द राम को अच्छी तरह जान लिया था उसका ठीक प्रयोग भी किया था। वह उनके लिए इस लोक में तो मनवांछित फलदाता हुआ ही उनका परलोक भी सुधर गया।

रामचरितमानस के अत में वे कहते हैं–

"जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परमविश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।।"

कृष्ण भक्त कवियों के सिरमौर अंधे सूर ने अपने बंद नेत्रों से ब्रह्म को माया के संबंध से रहित देखकर शुद्धाद्वैत समर्थित विचारों को भगवान सम्मत सूरसागर में अभिव्यक्त किया। ब्रजभाषा का महा महत्त्व का सूरसागर कृष्ण भक्ति का आकार ग्रंथ है। भागवत पुराण से प्रभाव लेकर अपनी मौलिकता और मेंधा से और कवित्व शक्ति से बड़े निखरे रूप में प्रस्तुत किया। भागवत पुराण में जिसका नाम भी नहीं है, उस राधा को मूल्य देकर रसनीयता का ऐसा सागर बहाया जिसमें तपोभूमि वन्दावन और ब्रज विश्वविख्यात हो गये। सूरदास की सूक्ष्मेंक्षण शक्ति बड़ी अद्भुत थी। बाललीला का वर्णन करके उन्होंने ऐसा साहित्य उभारा जो सहज ही रस चुबिनी कोटि में रखा गया और वात्सल्य को रसत्व सिद्ध करने में अतीव सहायक रहा। श्रंगार का संयोग वियोग गोपियों के माध्यम से व्यक्त करे रसनीय काव्य प्रदान किया। उन्हें वात्सल्य और श्रंगार रस का सम्राट कहा जाता है। ऊँचे भक्त और ऊँचे कवि, दो अद्भुत शिखरों का मेंल सूर के साहित्य में है। अष्टछाप के कवि और मीरा तथा रसखान अपनी–अपनी तरह से काव्य को आगे बढ़ाते रहे पर उनको प्रेरणा देन वाल सूरदास ही है जिनको ब्रज के पत्ते–पत्ते में सांस–सांस में रमें कृष्ण का उनकी आझदिनी शक्ति राधा का अनुभव होता रहा। सूर के सामने राध ा संबंधी साहित्य था जिसका सूर ने रसमय प्रयोग किया। रूप गोस्वामी महाराज के 'भक्तिरसामत सिन्धु' और 'उज्जवलनील मणि' इस तरह की गहराई के बेहद प्रशंसनीय ग्रंथ हैं। हितहरिवंश का राध ासुधानिधास्तव भी इसी कोटि का है। उसके एक–एक श्लोक पर सूर जैसा सिद्ध कवि सौ–सौ छंद लिख सकता है, जैसे, एक श्लोक द्रष्टव्य है–

"प्रेमोल्लासेक सीमा परम रस चमत्कार वैचित्र्य सीमा।
सौन्दर्यस्यैक सीमा किमपि नववयोरूप लावण्य सीमा।।
लीला माधुर्य सीमा निज जन परमौदार्य्य वात्सल्य सीमा।
सा राधा सौख्य सीमा जयति रतिकला केलिमाधुर्य सीमा।।"

अर्थात प्रेम के उल्लास की एक सीमा, परम रस के चमत्कार की विचित्रता की सीमा, सौन्दर्य की एक सीमा, अनिर्वचनीय नवीन वय रूप लावण्य की सीमा, लीला युक्त माधुर्य की सीमा, निजजन के प्रति परम उदारता और निज जन 'दासीजन के' प्रति वात्सल्य की सीमा, सौख्य की सीमा, रतिकलाओं, और केलियों के माधुर्य की सीमा, श्री राधा की जय–जयकार होती रहे।

हिंदी साहित्य के भक्तिकाल में कृष्ण काव्य लिखने वाले अपरिमित कवि मिल जायेंगे लेकिन उनमें जो स्थान सूर को मिला, वह किसी अन्य को नहीं मिल सकता है। सूरसागर सूर की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना है। सूर के सागर में प्रेम की उत्ताल ंतरंगे सदैव तरंगायित होती रहती है। सूर की दष्टि पैनी थी। वे अपने युग के समाज के प्रति पूर्णतः सचेत रचनाकार थे। यवनों ंके अत्याचार से आक्रांत जनता के मन से जब ईश्वर के प्रति विश्वास उठ गया था, ऐसे समय में सूरदास ने अपने दिव्य प्रेमसंगीत द्वारा जीवन में आस्था जगाई और आशा का संचार किया।

भक्तिकालीन साहित्य में तुलसी का प्रादुर्भाव एक युगान्तारी घटना है। इनमें कारयित्री प्रतिभा का अद्भुत सामंजस्य देखा जा सकता था। तुलसी का लोकानुभव अत्यन्त व्यापक था। वे सच्चे अर्थों में व्युत्पन्न कवि थे। भक्तिकालीन रचनाकारों ने समाज की निम्न वर्गीय जनता की वर्ग चेतना की व्यंजना की है। तुलसी एवं सूर जैसे समाज के दिशावाहक, प्रेरणास्रोत एवं महिमामंडित कवि कभी–कभी इस धरती पर जन्म लेते हैं। जिस काल में इस प्रकार के महिमामंडित कवि एवं रचनाकार उत्पन्न हुए हो वह काल अवश्य ही उपलब्धियों से भरा होगा।

भक्तिकालीन समय में हिंदी साहित्य के महान् रचनाकार उत्पन्न हुए। इन्होंने न केवल अपनी रचना–ध र्मिता, काव्य–लालित्य, अलंकरण और भाषा भाव से राष्ट्र एवं समाज की प्रतिष्ठा बढाई, अपितु लोक चेतना को अद्भूत संजीवनी प्रदान की है। ऐसी लोक चेतना से समाज को दिशा प्राप्त है। इस प्रकार से समाज धीरे–धीरे दासत्व से मुक्ति, भौतिकता से अध्यात्म, अविपरीत अंधकार से प्रकाश तथा मत्यु से अमरत्व की ओर जाने में समर्थ होता है। शाश्वत संदेश का वहन करने वाली यह चेतना एक जाति

की नहीं, अपितु मानवता के लिए आलोक–स्तम्भ बनती है। इस प्रकार के महान् रचनाकार केवल रचनाकार ही नही रह जाते, वरन् युगद्रष्टा महापुरूष और लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ करते हैं।

जिस समय उत्तर भारत में नाथों और सिद्धों की अंतस्साधना प्रचलित हो चुकी थी, उसी समय दक्षिण भारत में आलवार भक्तों की भावधारा भी प्रवाहित हो रही थी जिसका समर्थन वहाँ के वैष्णव आचार्यों द्वारा किया गया। दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की स्थापना करने वाले रामानुज, मध्व, विष्णु स्वामी और निम्बार्क के चार महान् आचार्य हुए। इनके प्रयास से वैष्णव धर्म की पावन धारा दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित होने लगी। भक्ति के आचार्यों एवं भक्त कवियों की प्रेरणा से भक्तिकाल में चार मुख्य धाराओं का उदय हुआ–संत काव्यधारा, सूफी काव्यधारा, कृष्णकाव्यधारा एवं राम काव्यधारा। भक्ति आन्दोलन के परिणामस्वरूप हिंदी में ऐसे साहित्य की सष्टि हुई जिसमें काव्य कला का चरम विकास दिखायी देता है। गुण एवं परिणाम दोनों की दष्टियों से इस युग में विपुल साहित्य लिखा गया है।

भारतीय धर्म साधना एवं चेतना के इतिहास में हिंदी संत काव्य का प्रमुख स्थान हैं। धर्म, साधना एवं लोक जीवन के निर्मल स्वरूप को विकृत तथा विषम बनाने वाले तत्त्वों की इन कवियों ने तीव्र स्वर में आलोचना की। अंधविश्वास में डूबे समाज के लिए इन्होंने कल्याणकारी अभिनव मार्ग प्रशस्त किया। लोककल्याण के नाम पर प्रसारित आडम्बर, अनाचार एवं बह्यचारों की निंदा करते हुए संतों ने उसकी निस्सारता प्रमाणित की। संतों के कण्ठों से प्रस्फुटित ये वाणियाँ मंदाकिनी के दश्य मानवता का मंगल पाथेय बनीं। संतों की दष्टि में कवि एवं कवि कर्म सामान्य नहीं था। इन्होंने अपने संदेशों एवं उच्चादर्शों के प्रचार हेतु काव्य को माध्यम बनाया। हिंदी साहित्य में संत काव्य ने साहित्य एवं कला की अभिनव मान्यताएँ संस्थापित की। इनका मतवाद सहज साधना पर अवलम्बित है, उनकी दार्शनिक विचारधारा मूल उद्‌गम उपनिषद है। इनकी वाणी में सरलता एवं प्रभावोत्पादकता विद्यमान है। ये संत नैतिकाता के प्रचारक, सत्य उद्‌घाटक एवं समाज–सुधारक थे। इनमें अटूट विश्वास भरा हुआ था। संत कवियों की समाज साधना उन्हें अन्य कवियों के सामान्य स्तर से ऊपर उठाकर सम्मानित आसन पर प्रतिष्ठित कर देती है।

अपने तत्कालीन युग की धार्मिक विसंगति को दूर कर इन संतों ने सांस्कृतिक सामंजस्य स्थापित किया। इन्होंने हिन्दू एवं मुस्लिम के संघर्ष से पीड़ित मानव के हृदय में यह भरने का पुष्ट प्रयत्न किया कि राम–रहीम, केशव–करीम में भिन्नता नहीं है। धर्म की सबसे बड़ी विशेषता है औदार्य, करूणा से मुक्त होना, दया एवं सहिष्णुता का विकास करना। इन गुणों से परे रहकर मानव लौकिक–आलौकिक कोई सुख नही प्राप्त कर सकता। समाज, धर्म और संस्कृति के विकास एवं उत्थान की दष्टि से संतों का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। उन्होंने अपने रचना बल के द्वारा सत्य, क्षमा, दया, त्याग, विनय, समता, समदष्टि, कथनी, करनी, आदि सामाजिक विश्वासों की परिपाटी ही बदल दी है।

संतों का लक्ष्य बड़ा ही व्यापक रहा है। इन्होंने जीवों के निस्तार के लिए उच्चादर्शों के उपदेश दिए। मानव को कल्याणकारी पथ पर अग्रसर करना ही इनका उद्देश्य था। इनके हृदय में दुःखियों के प्रति असीम संवेदना थी। वे संसार को सुखी एवं प्रसन्नचित देखना चाहते थे। इसलिए इन्होंने सामाजिक परिवेश को सुधारने का सतत् प्रयास किया। संसार का सम्पूर्ण दुःख दारिद्रय वे अपने ऊपर लेना चाहते थे। इससे अधिक व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण मानवतावादी दष्टिकोण उच्च कोटि के संतों में ही हो सकता है।

"जे दुखिया संसार में, खावो तिनका दुक्ख।
दलिद्‌दर सौंपि मलूक को लोगन दीजै सुक्ख।।"

संतों का मत था कि सद्‌गुण एवं नैतिक शक्ति बहुत ही प्रभावोत्पादक होती है इसीलिए इन्होंने मानव में मानसिक शक्ति बढ़ाकर उत्साह भरने की चेष्टा की। वे मानते थे कि मानव में वह शक्ति है जिसके नाते वह अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं कर सकता है। स्पष्टतः इन्होंने नैतिकतापूर्ण मानवतावाद का समर्थन किया जिससे जनता में आर्थिक उदारता और विनम्रता आई।

संत साहित्य सामाजिक प्रगतिशीलता का प्रतीक है। प्रत्येक दष्टि से यह साहित्य प्रगतिशीलता के रंग में अनुरंजित है। काव्य के अंतरंग–बहिरंग पक्षों में तत्कालीन संत कवि पूर्णतः प्रगतिशील हैं। भाषा, भाव, रस, छंद, आदि की दष्टि से उन्होंने ऐसे प्रयोग किये जो उनके युग की मान्यताओं को पुष्टता, प्रदान करते हैं। इनके द्वारा सुझाये गये विचार भविष्य के लिए मानदंड बन गये। उन्होंने समाज में प्रगतिशील विचारों का समावेश कर युग–युग से पीड़ित जनका का उद्धार किया। संत चरनदास के विचारों में इस प्रकार की स्थिति का सुंदर आकलन किया गया है–

"एकन पग पनही नहीं एक चढ़ै सुखपाल।
एक दुखी एक अति सुखी, एक भूप इक रंक,
एकन को विद्या बड़ी, एक पढ़े नहिं अंक।
एकन को मेंवा मिलै, एक चने भी नाहिं,
कारन कौन दिखाइये, करि चरनन की छांहि।।

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि इन संतों ने जिस साहित्य की रचना की, वह सच्चे अर्थों में जन–साहित्य है। भाषा एवं विचार–बोध की दष्टि से वह शुद्ध रूप से लोक की वस्तु है। अपनी वाणी के द्वारा संतों ने देश को एक महान् सांस्कृतिक जाल से बाँध दिया। सामंती एवं अभिजात श्रंखलाओं के छिन्न–भिन्न हो जाने पर जातीयता विकसित हुई, जिसका शासन वर्ग की सभ्यता और संस्कारों से दूर–दूर तक कोई संबंध नहीं था। संतों में एक गहरा दायित्व–बोध था जिसके द्वारा वे देश और समाज के सजग प्रहरी बने। एक उदाहरण दष्टव्य है–

"सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै।।"

सूफी काव्यधारा भक्तिकाल की दूसरी महत्त्वपूर्ण धारा है। इसको प्रेमाख्यानक काव्य के नाम से भी जाना जाता है। भक्तिकाल को स्वर्ण युग बनाने में इस धारा के कवियों का योगदान भी महत्त्वपूर्ण रहा है। सूफी मत इस्लाम धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाली एक प्रमुख धारा का नाम है, जिसक पर कुरान का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। दिल्ली के शासक किसी न किसी सूफी साधक के शिष्य बनते थे और उसे विशेष सम्मान देते थे। मुगल–राज्य के विस्तार के साथ–साथ सूफियों का भी प्रसार होता गया। प्रमुख कारण यह था कि सूफियों ने भी अपने आप को इस्लाम से अलग नहीं होने दिया। हिंदी में प्रचलित प्रेमाख्यानों की हृदयग्राही परम्परा के द्वारा उन्होंने जनता के मध्य अपने विचारों का प्रचार किया। अकबर के युग तक सूफीमत प्रेम एवं भक्ति पर आधारित होकर सर्वमान्य हो चुका था। धीरे–धीरे इस मत में भारतीय संगीत, नत्य, देवोपासना की भावना आदि का प्रवेश होता चला गया।

सूफी संतों ने ऊँच–नीच के भेदभाव को मिटाने का सतत् प्रयास किया। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि जीवन में प्रेम की भावना ही उच्च एवं प्रधान होती है। सूफियों के दर्शन की भावना इतनी सरल और मधुर थी, कि जनता ने उसे बड़े हर्ष और प्रेम के साथ अपने जीवन में आत्मसात् कर लिया। सूफी कवि उदार प्रकृति के थे, इसी कारण उनके प्रेमाख्यानों में धार्मिक कट्टरता के दर्शन कम होते हैं।

साहित्यिक दष्टि से हिंदी सूफी काव्य का विशेष महत्त्व है। इन सूफी कवियों ने सुंदर प्रबन्ध काव्यों की रचना की है। उपमान, योजना, कथानक रूढ़ि तथा वस्तु वर्णन की प्रधानता के कारण उन्हें इस विधा को स्वीकार करना पडा। इनकी कथा का आधार पौराणिकता पर आधारित प्रसंग और घटनाएँ हैं। इनका संयोग–वियोग तथा नख–शिख वर्णन अत्यन्त आकर्षक है। इनके द्वारा रचित प्रेमाख्यानों का उद्देश्य मनोरंजन कम आध्यात्मिक प्रचार अधिक माना गया है। कथा रूढ़ियों के स्रोत भारतीय और भारतीयेत्तर दोनों रहे हैं। फारसी की मनसबी शैली का प्रभाव अधिक रहा है। सांसारिक प्रेम उनके लिए ईश्वरीय प्रेम का सोपान था। सूफी काव्य परम्परा के लगभग समस्त प्रेमाख्यानकों की सामान्य विशेषताएँ प्रायः एक जैसी रही है, लेकिन इनमें से कुछ कृतियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती है तथा

समाज पर लम्बा प्रभाव छोड़ जाती हैं। जायसी की अमरकृति 'पद्मावत' भी इसी तरह की कृति रही है। जायसी इन कवियों में विशेष तौर पर सर्वोपरि हैं और 'पद्मावत' इस परम्परा का गौरव ग्रंथ है। जायसी से पूर्व की सभी प्रेमकथाएँ कल्पित थीं। जायसी ने अपने ग्रंथ 'पद्मावत' में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। रत्नसेन और पद्मावती की प्रणय कथा को अपनी कल्पना से रसासिक्त कर अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। लौकिक प्रेम के आधार पर आध्यात्मिक अभिव्यंजना करने वाले इस ग्रंथ में प्रेम–साधना को ईश्वर–प्राप्ति का मार्ग बतलाया है। पद्मावत की प्रेम कहानी हिन्दू घरों में प्रचलित कहानी है। जिसे जायसी ने मुस्लिम संस्कृति से जोड़कर हिन्दू–मुसलमानों के मध्य निरन्तर बढ़ रही खाई को कम करने का कार्य किया। यह जायसी का उत्कृष्टतम योगदान कहा जा सकता है। जायसी की नागमती का विरह–वर्णन हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ विरह वर्णन माना जाता है।

जायसी ने लोक संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों को अपने काव्य में रखकर एक ओर तो काव्यात्मकता की रक्षा की है और दूसरी ओर लोक संस्कृति को जीवित रखने का प्रशंसनीय कार्य किया है। इन्होंने हिन्दुओं की कहानी को उनकी ही बोली में प्रस्तुत किया। इन कथाओं में लोकप्रचलित घटनाओं, विश्वासों और गाथाओं को प्रकट किया गया है। इस दष्टि से जायसी को लोक कवि कहा जा सकता है।

कृष्ण काव्य में कृष्ण का उपास्यरूप महाभारत, हरिवंश विष्णु पुराण, तथा श्रीमद्भागवत पुराणों में विस्तार से मिलता है। महाभारत, हरिवंश तथा विष्णुपुराण में वष्णिवंशीय सात्वतकृष्ण के ऐश्वर्यमय रूप की प्रधानता है, वैसे तो भक्ति काल में कृष्ण काव्य लिखने वाले अपरिमित कवि हुए हैं, किन्तु इनमें सूरदास का स्थान सर्वप्रमुख रहा है। सूरदास को न केवल अष्टछाप के कवियों, अपितु सम्पूर्ण कृष्ण कथा कवियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। 'सूरसागर' सूर की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना है। हरि लीला इसका वर्ण्य–विषय है। दैन्य, वात्सल्य, सख्य, श्रंगार, आदि में सूर की मौलिकता झलकती है। नन्द–यशोदा के साहचर्य में वात्सल्य, श्रीदामा आदि सखाओं के सान्निध्य में सख्य तथा ब्रज कुमारियों के प्रसंग में माधुर्य स्पष्ट झलकता है। प्रत्येक पद मुक्तक एवं स्वतंत्र आवाद्य है किन्तु कुछ खण्ड काव्यात्मक विशेषताओं से सम्पन्न है।

सूरदास की दष्टि बड़ी तीव्र थी। वे अपने युग के सचेष्ट रचनाकार थे। यवनों के अत्याचार से आक्रांत जनता के मन से जब ईश्वर के प्रति विश्वास उठ चुका था, ऐसे समय में सूर ने ब्रज कुमारी द्वारा अपनी मन को सरल–सुहावना बनाकर चतुर्दिक् भुवन मोहन की मुरली बजाई। अपने दिव्य प्रेम संगीत द्वारा जीवन में आस्था जगाई और आशा का संचार किया। उन्होंने समानता की परिपाटी पर आधारित एक ऐसे मानव–समाज की सष्टि की जो विश्व–बन्धुत्व तथा निश्छल प्रेम पर आधारित था।

सूर के कृष्ण सदैव सामान्य रहे हैं, विशिष्ट नहीं, चाहे वे राजा नंद के पुत्र रहे हो चाहे स्वयं राजा। सूर की वह जीवन–दष्टि कितनी स्पहणीय है जिसमें आज की तरह कहीं भय और तनाव नहीं है, है जो केवल मुरली की मधुर ध्वनि, नाचना–गाना, खेल और मनोविनोद। यहाँ नगरीय जीवन की चमक–दमक नहीं है। कालिन्दी का सुंदर कूल है। सूर का काव्य समाज को नव जीवन की प्रेरणा देता हैं। कोई भी जीवन से ऊबता नहीं है। भारतीय जीवन दष्टि पूर्ण की आराधना करती है। यही कारण है कि सूर का काव्य अपूर्ण दष्टि वाले मानव को सदैव आकर्षित करता है।

सूर की भाषा ब्रज भाषा है इन्होंने ही सर्वप्रथम ब्रज भाषा को एक सुव्यवस्थित साहित्यिक भाषा के रूप में अपनी रचनाओं में स्थान दिया। वास्तव में जो लालित्य और मोहकता ब्रज भाषा में है, वह किसी अन्य भाषा में नहीं है। इसमें काव्योपयोगी रमणीय शब्दों की भरमार है। श्ंगार रस के लिए तो ब्रजभाषा के समकक्ष कोई भाषा ही नहीं ठहरती। इसकी शब्दावली बड़ी ही समद्ध है। सूर ने ब्रजभाषा को जनभाषा, धार्मिक भाषा तथा साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान किया है। इस दष्टि से हिंदी जगत्

में उनकी उपलब्धि महान् है। हिंदी का कृष्ण भक्तिकाव्य संपूर्ण हिंदी काव्य में अनुभूति की तलस्पर्शिता और अभिव्यक्ति की भंगिमा के कारण श्रेष्ठ है। ये भक्त कवि मानसी उपासना के कारण स्वयं अनुभूतिमय हो गये थे। इसलिए इनके काव्य में संवेदन की सच्चाई और बोध की गरिमा दिखायी देती है। मानव का सौन्दर्य और प्रेम यहाँ साकार हो उठता है। नारी और पुरूष का साहचर्य, रूपासक्ति, मान, समर्पण, एक दूसरे में अंतर्लीन हो जाने की आतुरता रखते है। इन कवियों ने व्यापक सांस्कृतिक चेतना का उन्नयन किया जिसका मूल बिन्दु सौन्दर्य था।

उत्तर भारत में राम भक्ति के प्रचार का श्रेय स्वामी रामानन्द को जाता है। रामानुज के श्री सम्प्रदाय में दीक्षित होकर भी उन्होंने रामावत् सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। रामानुजाचार्य ने विष्णु के अन्य रूपों में रामरूप को तथा अन्य भक्तिभावों में दास्य को विशेष महत्त्व दिया। उत्तर भारत में ही गुह्य साधना के रूप में सीताराम के सौन्दर्य रूप की उपासना भी प्रचलित थी तथा आचरण पक्ष में सामाजिकता की दृष्टि से अध्यात्म रामायण की परम्परा भी ग्रहीत थी।

हिन्दी साहित्य जगत में तुलसी का प्रादुर्भाव एक युगान्तरकारी घटना है। इसमें कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा का अद्‌भुत सामंजस्य था। इनका अध्ययन जितना गंभीर था, लोकानुभव उतना ही व्यापक–विशाल। राम–कथा के अनन्त स्रोतों का मंथन करके तुलसी ने जो मानस–नवनीत निकाला, उसकी स्निग्धता से भारतीय जन मानस ही नहीं, अपितु विश्व मानवता आज भी अपरमित आनंद का अनुभव करती है। तुलसीदास हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक महिमावान कवि है।

तुलसीदास ने राम के जिस रूप–स्वरूप की प्रतिष्ठा की उसमें अपरिमित शक्ति, शील एवं सौन्दर्य का अद्‌भुत सामंजस्य दिखाई देता है। इन विशेषताओं में मानव की सम्पूर्ण उदात्तता समाहित हो गयी है। आराध्य शक्तिशाली होगा तभी वह भक्तों की रक्षा करने में समर्थ होगा। युगीन लोक रक्षण की दष्टिगत रखते हुए तुलसी ने राम को शक्तिमान के रूप में प्रस्तुत किया। शील से शक्ति मर्यादित होती है, उसके दुरूपयोग की संभावनाएँ कम होती है। इसलिए तुलसी ने राम के सर्वगुण सम्पन्न रूप की अवधारणा की है। वे आदर्श पुत्र, पति, भाई, स्वामी आदि रूपों में दिखाई देते हैं। तुलसी की भक्ति पद्धति सेवक–सेव्य भाव की है। राम–नाम के प्रति पूर्ण विश्वास के साथ जीवन की समग्र नैतिकता के आधार पर वे भारतीय समाज के महत्त्वपूर्ण घटक सिद्ध हुए। सम्पूर्ण उत्तर भारत में जितना आदर उनके 'रामचरितमानस' को मिला, उतना इग्लैंड में बाइबिल को भी नहीं मिला होगा। तुलसीदास ऐसे महान् देवदूत हैं जो रामानंद के सिद्धान्त को पूर्व से पश्चिम तक ले गये तथा उसे स्थिर विश्वास में परिणत किया।

भक्तिकाल की चारों धाराओं का अनुशीलन करने पर हम पाते हैं कि इन सारे संतों और भक्तों का उद्देश्य रचनात्मक है। वे मानव–मानव में किसी प्रकार का भेद–भाव नहीं रखते हैं। एक ओर निर्गुण संत आत्म परिष्कार और चित्तशोधन करते हैं। वे ईश्वर की इच्छानुसार जीवन जीने में विश्वास करते हैं। **'जेहि बिधि राखै त्यूँ रहौं जो कुछ देइ सो खाऊँ।'** वहीं दूसरी ओर सूफी संत हैं जो हिन्दू–मुस्लिम के बीच की युगीन दरार देखते है; उसे कम करने का प्रयास करते है। इसके साथ ही कृष्ण–काव्यधारा के कवियों ने जीवन में प्रेम की प्रतिष्ठा करके, तुलसी जैसे कवियों ने एकत्व दर्शन करके समूचे युग और मानवता का कल्याण किया है।

भक्ति आन्दोलन में युग जीवन की आतंरिक वेदना की स्वानुभूति, भगवान की भक्ति और करूणा में स्थिर आशा एवं आस्था के स्वर मुखर है। निराश एवं हतोत्साहित जनता के जीवन में शक्ति का नव–संचार है। भारतीय साहित्य चिन्तन परम्परा का समन्वय और विकास है। पौराणिक प्रतीकों, मिथ्यों, शास्त्रीय कथाओं, विचारों एवं अनुभूति धाराओं का लोकाभिमुखी रूप है। तथा उनका लोक कथाओं से संयोग है। भक्तिकाव्य लोक प्रतिभा की रचनात्मक शक्ति की देन है। इस काल में हिंदी की अन्य शैलियों जैसे–गद्य आदि का विकास उतना नहीं हुआ था, किन्तु काव्य–क्षेत्र में ही जो विविध शैलियाँ विकसित हुई, वे गुणों एवं परिमाण की दष्टि से अपरिमित हैं। युगानुरूप इन कवियों ने जिस राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना का विकास किया, सामाजिक सौहार्द लाने का प्रयास किया, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग कहना उचित एवं तर्कसंगत है।

18. भक्ति काल : स्वर्ण युग

हिंदी साहित्य के भक्तिकालीन समय को साहित्यिक क्षेत्र का स्वर्ण युग माना जाता है। भक्तिकाल निस्संदेह हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग है। इस काल का साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य एवं परवर्ती साहित्य से निश्चित रूप में उत्कृष्ट है। भक्तिकाल से पूर्व हिंदी के आदिकाल अथवा वीरगाथा काल में कविता वीर और श्रृंगार–रस प्रधान थी, जीवन की अन्य दशाओं और क्षेत्रों की ओर कवियों का ध्यान गया ही नहीं। इस काल के चारण कवि राज्याश्रित थे और उनकी कविता अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशस्तिमात्र थी। सर्वोपरि इस काल के साहित्य की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। भक्तिकाल के उत्तरवर्ती साहित्य में रीतियुक्त अथवा श्रृंगार–प्रधान कविता का बोलबाला रहा है। इस काल की कविता में भी जीवन की स्वस्थ प्रेरणाएँ नहीं रहीं एकमात्र श्रृंगार की ही इस युग में प्रधानता है। और उसमें भी अश्लीलता अधिक है। वस्तुतः रीतिकालीन कविता 'स्वान्तः सुखाय' अथवा 'जनहिताय' न होकर 'सामन्त सुखाय' है। आधुनिक काल का साहित्य अपनी व्यापकता एवं विविधता की दष्टि से भक्तिकाल से आगे निकल जाता है। विशेषकर गद्य–साहित्य का विकास जितना आधुनिक युग में हुआ है, उतना भक्तिकाल में नहीं। इसके विपरीत भक्तिकाल में गद्य का प्रायः अभाव सा ही रहा है परन्तु अनुभूति की गहराई एवं भाव–प्रवणता के क्षेत्र में आधुनिक युग का साहित्य भक्तिकाल के साहित्य की समकक्षता में नहीं रखा जा सकता।

भक्तिकालीन साहित्य को हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग माना गया है। इस सन्दर्भ में अधिकांश विद्वानों का एक मत है। इस संदर्भ में कुछ मत उल्लेखनीय हैं–

बाबू श्यामसुन्दर दास का मत

भक्तिकाल में अनेक भक्त कवियों–कबीर, सूर, तुलसी, मीराबाई, रसखान आदि की वाणी (साहित्य) की सरिता अगाध रूप में बही है। डा० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में –'जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्तः करणों से निकलकर देश के कोने–कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही वह हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग था' इस संदर्भ में आगे लिखते हैं– 'हिंदी–काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाए तो जो बचेगा वह इतना हल्का होगा कि उस पर किसी प्रकार का गर्व न कर सकेंगे। लगभग दो सौ वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर उठाये हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिंदी भारती के कण्ठमाल हैं।'

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपना मत स्पष्ट करते हुए लिखा है। "समूचे भारतीय इतिहास में ये अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति–साहित्य है। यह एक नई दुनिया है।"

1. **भक्तिकालीन काव्य सर्वोत्तम काव्य के रूप में**: अंग्रेजों का मानना है कि 'यदि हमारे सम्मुख एक ओर शेक्सपियर रखा जाए और दूसरी ओर विश्व का साम्राज्य, तो हम पहले शेक्सपियर को ही चुनेंगे। 'हमारे यहाँ सूर, तुलसी, नन्ददास आदि कितने ही शेक्सपियर हुए हैं जो भारती के कण्ठहार है।' इस प्रकार हिंदी के समालोचकों ने एकमत से हिंदी साहित्य के भक्तिकाल को हिंदी का स्वर्णयुग माना हैं यह काल हिंदी काव्य की चतुर्मुखी उन्नति का काल था। काव्य–सौष्ठव, समन्वयवाद, भारतीय–संस्कृति, भावपक्ष, कलापक्ष और संगीत आदि सभी दष्टियों से यह काव्य सर्वोत्तम है। यह एक साथ हृदय, मन और आत्मा की तप्ति करता है।

2. **भक्तिकालीन हिंदी साहित्य की चार काव्यधाराएँ**: भक्तिकालीन काव्य की विविध रूपों में प्रगति हुई। इस काल की चार काव्य–धाराओं ने एक साथ हिंदी साहित्य की वद्धि कर डाली। चार काव्यधाराएँ निम्नलिखित हैं–

1. संत काव्यधारा
2. प्रेम काव्यधारा
3. कृष्ण काव्यधारा
4. राम काव्यधारा

1. **संत काव्य धारा**: सन्त काव्यधारा के प्रमुख कवि कबीर है। इनके अतिरिक्त दादूदयाल, नानक, सुन्दरदास आदि का स्थान सन्तों में महत्त्वपूर्ण है। कबीर आदि संतों के साहित्य में रहस्यवाद, भक्ति, खण्डन–मण्डन एवं सुधार की भावनाएँ हैं। काव्यत्व की दष्टि से भी इनके काव्य में शब्दगत, अर्थगत एवं रसगत रमणीयता विद्यमान है। कबीर ने 'साखी', 'शब्द', 'रमैनी' की रचना की है, जो 'बीजक' कृति में विद्यमान है।

संत काव्य की विशेषताएँ

(i) **गुरू की महिमा का सुन्दर चित्रांकन**: संत साहित्य में ही नहीं, वरन् सकल भारतीय जीवन और वाड्मय में गुरू को अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है, क्योंकि गुरू को ही अन्धकार–अज्ञान का निरोधक बताया गया है। इस जगत् में गुरू की महत्ता और अपरिहार्यता निर्विवाद है। गुरू सत्पुरूष (ब्रह्म) का अनुभावक ज्ञाता होता है। वह अनन्त (ब्रह्म) को अनन्त लोचनों से दर्शाता है, इसलिए वह अनन्त महिमामण्डित है।

"सतगुरू की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार।।"

गुरू की संत साहित्य में अभूतपूर्व अभ्यर्थना हुई है। संत दादूदयाल की निर्भ्रान्त धारणा है कि गुरू ही मनुष्य से पशुता को परास्त कर देवत्व स्थापित करता है, ज्ञान देकर ब्रह्म की अनुभूति कराता है, इसीलिए दादू गुरू–उपदेश को अत्यन्त दुर्लभ स्वीकार करते है। इसी दुर्लभता को भावित करके उसे मुक्तिदाता के रूप में अंगीकार किया है–

"जीव रचा जगदीश नैं। बांध्या काया मांहि।
जन रजब मुक्ता किया तौ गुर समि कोई नाहिं।।"

(ii) **माया की व्यर्थता का चित्रण**: माया का सिद्धान्त भारतीय अध्यात्म क्षेत्र की सबसे प्रमुख विशेषता है। 'माया' शब्द की व्युत्पति 'मा' धातु से मानी जाती है। जिसका शाब्दिक अर्थ है परिधि, सीमा या फिर माप। कोई ऐसा रूप या अन्य वस्तु जिससे लोग धोखे या भ्रम में पड़ जाते हैं माया कही जा सकती है। इस प्रकार माया वह आवरण है, जो आत्मा–परमात्मा के मध्य भेद का पर्दा डालकर उसे अपने सत्स्वरूप से पथक करती है तथा नाना सांसारिक कर्मों में अलिप्त करती है। वह भ्रम, अज्ञान व धोखा कहा जायेगा। संत कबीर ने माया को जीव और ब्रह्म के मध्य भेद डालने वाली शक्ति बताया है। इसने अपने हाथ में सत्, रज, तप, तीनों गुणों को धारण कर रखा है–

"माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।।"

संतों ने माया को अनेक नामों से जाना–बखाना हैं। कबीर ने इस माया को बहुरूपिणी–मनोमोहिनी बताया है। इसकी व्याप्ति सर्वत्र है। समग्र संसार इसी माया में आलिप्त है। मिथ्या जानकर भी मानव–माया–मोह में मग्न हो जाता है। सुंदरदास का मत इस सन्दर्भ में इस प्रकार है–

"माया मोह माँहि जिनि भूलै।
लोक कुटुम्ब देषि मत फूलै।
इनके संग लागि क्या जरना,
समुझि देषि निश्चै करि मरना।।"

(iii) **संसार की असारता का चित्रण**: संत कबीर आदि निर्गुणिए संतों ने अद्वैतवादियों की तरह ब्रह्म की सत्यता और जगत् की अनित्यता को सुरेखित किया है। उन्होंने जगत् की क्षणिकता का बोध कराने के लिए इस संसार को सुमेंर का फूल, धुंध का मेंघ, कागज की पुड़िया आदि से उपमित किया है। गुरू नानक भी चमक–दमक वाले इस संसार को अनित्य मानते हैं। संत मूलकदास को भी समस्त संसार मरा हुआ प्रतीत होता है। और संसार का समस्त ऐश्वर्य 'फटकन' लगता है।

"जेते सुख संसार के इकट्ठे किये बटोर।
कन थोरे कांकर घने, देखा फटक पछोर।।"

(iv) **नारीविषयक चिन्तन**: संतों ने नारी के दो रूपों की अवधारणा की है– एक तो उसा का कामिनी रूप है जिसे संतों ने गर्हित और त्याज्य माना है, दूसरा उसका सती रूप है जो संतों के लिए बड़ा मान्य और ग्राह्य है। संत कबीर ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कनक और कामिनी की निन्दा की है। कामिनी भक्ति, मुक्ति और ज्ञान की विनाशिका होती है, इसीलिए कबीर उसे त्याज्य बताते हैं–

"नारि नसावै तीनि सुख जौ नर पासैं होइ।
भगति मुकति जिन ध्यान, मैं पैसि न सकई कोई।।"

(v) **नैतिक भावना की प्रबलता**: 'नीति' एक व्यापक शब्दभाव है। यह उत्कृष्ट आचार–संहिता है। नीति ही मानव को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक प्रदान करती है। काव्य और जीवन का बड़ा ही समीपी संबंध है।

नैतिक भावना से अनुप्राणित होकर संतों ने अपनी कविता में प्रणय, दान, दया, अहिंसा, सत्संगति, सदाचार, सत्यता, परोपकार, क्षमा, शौर्य, निन्दा, त्याग, क्रोध विसर्जन, अभिमान हीनता आदि नीति के नाना रूपों को शब्दांकित किया है। प्रेम की अनिवार्यता को भावित करके संत। कबीर उस शरीर को व्यर्थ एवं हेय मानते है। जो प्रेम रस से लबालब नहीं भरा है। संतों के मन में दान की बड़ी महिमा थी।दान देकर दाता स्वयं का अभ्युदय करता है। कबीर ने इस भावसत्य को व्यंजित करते हुए कहा है–

"ऋतु बसंत जाचक भया, हरिख दिया द्रुम पात।
ताते नव पल्लव भया, दिया दूरि नहिं जात।।"

(vi) **मानवतावादी चिन्तन**: भक्तिकालीन संतों के समय धर्म के वास्तविक स्वरूप का लोप हो चुका था, इसीलिए संतों ने बाह्यचारों एवं बाह्याडम्बरों के खण्डन द्वारा लोकमानस को धर्म के मूल रूप को समझने के लिए उदबोधित कियां इस उद्बोधन में उन्होंने हिन्दू और मुसलमान की एकता का प्रतिपादन किया। जातिय एकता की स्थापना की, ब्राह्मणों के थोथे ज्ञान को दमित किया लोगों को समाज तथा धर्म की संकुचित सीमा

को तजकर सार्वभौमिक और सार्वकालिक जीवन–मूल्यों को अंगीकार करने की सलाह दी।

"कछु न कहाव आप कौ; काहू संग न जाइ।
दादू निर्परव है रहै, साहिब सौं ल्यौ लाइ।।"

प्रेम काव्यधारा

प्रेमकाव्य के कवियों में जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान आदि प्रमुख हैं। इस शाखा के प्रतिनिधि कवि जायसी है। उनका 'पद्मावत' हिंदी का प्रथम सफल महाकाव्य है। जायसी आदि प्रेममार्गी कवि सूफी मुसलमान है, परन्तु उन्होंने अपनी सहिष्णुता, उदारता आदि गुणों से हिन्दू मुस्लिम संस्कृति में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। ये कवि 'प्रेम की पीर' के कवि है। लौकिक प्रेमकथाओं के माध्यम से इन्होंने आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की है। ये कवि भी रहस्यवादी हैं। शुक्ल जी ने इन्हीं के रहस्यवाद को शुद्ध भावात्मक रहस्यवाद माना है।

प्रेम काव्यधारा में प्रेमाख्यानों के वर्ण्य-विषय की विशेषताएँ

1. **प्रेम काव्यधारा में प्रेम एक मादक तत्त्व के रूप में**: प्रेम काव्य धारा में प्रेम एक मादक तत्त्व के समान माना जाता है जिसकी खुमारी में सूफी साधक खुदा के नूर को उसकी अनुभूति को अभिव्यक्त करने में सफल होता है। मिलन की स्थिति में उसे संसार की स्मति नहीं रहती, देह का किंचित मात्र ध्यान नहीं रहता है। सूफियों की सम्पूर्ण साधना प्रेम पर आश्रित है। उन्होंने ईश्वर को प्रियतम माना है। उनके लिए वह अमूर्त होता हुआ भी मूर्तिमान सौंदर्य है, माधुर्य लोक का शासक है और प्रेम का प्रचारक है। प्रेमी कवि बरक्तुल्ला ने कहा है कि कहीं, ईश्वर, कही प्रेमी और कहीं प्रियतम तथा कही स्वयं प्रेम ह–

   "कहीं माशूक कर जाना, कहीं आशिक सितां माना।
   कहीं खुद इश्क ठहराना, सुनो लोगों सुखावानी।।"

2. **प्रेम काव्यधारा में नायक-नायिका**: इन प्रेमकथाओं में नायक नायिकाओं को सांसारिक संबंधों के प्रति उदासीन दिखाया गया है। इन काव्यों के नायकों पर योगियों का प्रभाव दष्टिगत होता है। समस्त प्रेमाख्यानों के नायक योगी होकर ही निकले हैं और योग–साधना से ही उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है। नायक को जीवन का और नायिका को ब्रह्म का प्रतीक माना गया है।

3. **लोक दष्टि** : प्रेम काव्य धारा की लोक दष्टि बड़ी ही सजग रही है। अपने आस–पास के विस्तत वातावरण से कहीं पर अदश्य की निराधार विस्तत कल्पना इन कवियों ने नहीं की, वरन् उनकी रचनाओं में भारतीय जीवन एवं संस्कृति का बड़ा सजीव चित्रण हुआ है। सामाजिक जीवन के आनन्दोल्लास एवं मर्यादा के प्रतीक त्यौहारों, उत्सवों, सामाजिक रीतियों एवम् संस्कारों का वर्णन भी इन प्रेमाख्यानों में यत्र–तत्र प्राप्त होता है। माता–पिता की सेवा, स्त्री का समाज में स्थान, श्वसुर–गह का भय आदि सामाजिक समस्याओं पर भी इन कवियों ने अपने विचार प्रकट किये हैं।

4. **कथानक रूढ़ियाँ**: इन प्रेमाख्यानों के वर्णन–विषय में एक बात यह ध्यान देने योग्य है कि इनमें सिंहल यात्रा या उसके अभाव में किसी अन्य यात्रा का वर्णन अवश्य रहता हैं इसके अतिरिक्त अपभ्रंश के चरित–काव्यों की कतिपय कथानक रूढ़ियों का भी इनमें समावेश हुआ है, यथा उजाड़नगर या वन में किसी सुंदरी से साक्षात्कार फिर राक्षस के हाथों से उसे छुड़ाना, नायिका–चित्र निर्माण, पशु–पक्षियों का मनुष्य की बातों में बोलना एवं उनकी भाषा समझना, नायक–नायिका के मिलन में अधिकांशतः शुक का योग आदि।

5. **काव्यादर्श-प्रेरणा और प्रयोजनः** यद्यपि हिंदी प्रेम काव्यधारा के कवियों का प्रमुख काव्यादर्श अध्यात्म, विरह एवं प्रेम का चित्रण करना था, किन्तु इसके साथ ही उनका काव्यादर्श यश की लालसा, लोक–हित एवं समाज–कल्याण, कान्तासम्मित उपदेश तथा सूफी–सिद्धान्तों एवं इस्लाम धर्म के प्रचार की भावना से भी संयुक्त था। संत कवियों में काव्य रचना के प्रति यश की कोई कामना नहीं रही है। जबकि इसके विपरीत सूफी कवि यश की लालसा से भी काव्य–सजन में प्रवत्त हुए है। यद्यपि उन्होंने काव्य के माध यम से अपने आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति की है।

कृष्ण काव्यधारा

कृष्ण काव्य के प्रतिनिधि कवि सूरदास हैं। इनके अतिरिक्त नन्ददास, परमानन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों, हितहरिवंश, मीरा तथा रसखान का नाम इस साहित्य में आदरपूर्वक लिया जाता है। कृष्णभक्त कवियों ने गीतिकाव्य की रचना की है। कृष्ण के लोकरंजन रूप को लेकर सख्य सख्य एवं माधुर्यभाव से भक्ति की है। सूर का 'सूरसागर' गीतिकाव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। इनके वात्यल्य भाव और श्रंगार–रस का चित्रण अपूर्व भक्ति–भावना, समन्वयवाद, लोक–मंगल की भावना, भाव, भाषा और शैली सभी दष्टियों से उत्कृष्ट है। सूरसागर सूर की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना है। हरि लीला इसका वर्ण्य विषय है। दैन्य, वात्यल्य, संख्य, श्रंगार तथा शांत भाव व्यंजक इन पदों से सूर की मौलिकता दिखायी देती हैं सूर के सागर में प्रेम की उत्ताल तंरगे, सदैव तंरगायित होती रहती है। ऐसे युग जीवन में स्नेह स्रोत सूख गया था। सूर ने उसके कण–कण में प्रेम को प्रतिष्ठित कर दिया। प्रेम की यह विजय सूर की अपनी विजय है। योग सर्वसुलभ नहीं है, ज्ञान का पार नहीं है, वेद सुनना सबके लिए वैध नहीं है। ऐसे में प्रेम या भक्ति ही सर्वसुलभ है। प्रेमियों की भक्तों की कोई जाति नहीं है। प्रेम में कही गोपनीयता भी नही ंहै। यह परमार्थ का मार्ग प्रशस्त करता है–

"प्रेम प्रेम ते होइ, प्रेम ते पारहिं जइये।
प्रेम बध्यों संसार, प्रेम परमारथ पइये।
साँचों निहचै प्रेम कौ, जीवन मुक्ति रसाल।।
एकै निहचै प्रेम कौ, जाते मिलै गोपाल।।"

कृष्ण काव्य धारा की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार प्रकट की जा सकती हैं–

1. **भक्ति के बहुआयामी स्वरूप का चित्रणः** कृष्ण काव्यधारा के रचनाकारों की भक्ति रागानुगा कोटि की है। भक्ति इन रचनाकारों के लिए साध्य है, साधन नहीं। इस भक्ति में सख्य एवं कान्ताभाव की प्रधानता है। दास्य और वात्सल्य भक्ति के साथ नवधाभक्ति को भी इसमें महत्त्व मिला है। निम्बार्क सम्प्रदाय में स्वकीया भाव पर और चैतन्य तथा बल्लभ सम्प्रदाय में परकीया भाव की भक्ति का विशेष महत्त्व रहा है। प्रेमाभक्ति का समाहार भी आगे चलकर माधुर्य भक्ति में हो जाता है।

"हमारे हरि हारिल की लकरी।
मनक्रम बचन नंद-नंदन उर, यह दढ़ करि पकरी।।"

2. **गुरू महिमा और नाम स्मरण की महत्ता पर बलः** कृष्ण काव्यधारा के रचनाकारों ने संत, सूफी और रामकाव्य के सजनकर्त्ताओं के समान ही गुरू की महिमा का गान किया है। वे भव सागर में डूबते हुए शिष्यों को ज्ञान से आलोकित कर बचाने का उपक्रम करते हैं। गुरू ही उपास्य के प्रति शिष्यों में प्रेम उपजाता है। ज्ञान का आलोक फैलाता है, भक्ति के मार्ग पर चलने का आह्वान करता है और प्रभु–दर्शन कराने में अहम भूमिका निभाता है। यह सभी गुरू कृपा पर ही निर्भर होता है। सूरदास ने लिखा है।

"गुरू बिनु ऐसी कौन करे?
माता-तिलक मनोहर बाना, लै सिर छत्र धरै।
भवसागर तै बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै।
सूर स्याम गुरू ऐसो समरथ छिन मैं ले उधरै।"

3. **समकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्तिः** भक्तिकालीन युग के कृष्ण काव्यों में समकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को यथार्थ रूप में सम्प्रेषित किया गया है। आज का समाज जितना विकसित और समद्ध है उतना उस समय का समाज विकसित नहीं था। उस काल के सामाजिक और सांस्कृतिक कर्मों से पता चलता है कि उस काल में चारगाही संस्कृति का ही बोलबाला था। गोचारण कर्म ही उस समय का प्रधान पेशा था। पर्व और उत्सव में सामूहिक सहभागिता की अपनी अलग पहचान थी। बच्चों का जन्म हो या कर्म, उसमें सभी भागीदारी निभाते थे। श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव का एक उदाहरण दष्टव्य है–

"हौं इक नई बात सुनि आई।
महरि जसोदा ढोटा जायौ, घर-घर होति बधाई
द्वारैं भीर गोप-गोपिनी की, महिमा बरनि न जाई।
अति आनन्द होत गोकुल मैं, रतन भूमि सब छाई।
नाचत वद्ध, तरून अरू बाल, गोरस-कीच मचाई।
सूरदास स्वामी सुख सागर, सुंदर स्याम कन्हाई।।"

4. **विरहानुभूति की धार्मिक अभिव्यंजनाः** कृष्ण काव्य धारा के रचनाकारों ने वियोग शृंगार के अन्तर्गत विरह की विभिन्न भूमियों को सजीव रूप से चित्रित किया है। विरह की जितनी भी अन्तर्दशाएँ सम्भव है, वे सभी इस काव्य में मिल जाती है। इन कवियों का विरह वर्णन संवेदनाजन्य है। परिस्थितियाँ इसमें आड़े हाथ नहीं आती। विरह का एक–एक पल विरहिणी के लिए कल्प के समान अहसास होता है। सूरदास ने इस विरहानुभूति को विभिन्न अन्तर्दशाओं के रूप में प्रस्तुत किया है, जो बड़ा ही हृदय विदारक है–

"निरखति अंक स्याम सुंदर के बार-बार लावन्ति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलिकै, है गई स्याम स्याम की।।"

5. **राधाकृष्ण और गोपियों के मिलन का सजीव चित्रणः** कृष्ण काव्यधारा के कवियों ने राधाकृष्ण और गोपियों के मिलन को एक विस्तत फलक पर आयोजित किया है। यह विस्तत फलक ब्रज और वन्दावन का वह क्षेत्र है जिसमें इन सभी की प्रेमक्रीड़ाएँ संचालित होती है। खेलते हुए कृष्ण कभी ब्रज की संकरी गली में और कभी यमुना के तट पर निकलते हैं जहाँ पर उनकी भेंट राधा और उसकी सखियों से हो जाती है। राधा गौरवर्णी थी और कृष्ण श्यामवर्ण। राधा की सुंदरता को देखते ही वे मुग्ध हो गये। यथाः

"खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीतांबर बाँधे हाथ लिये भौंरा, चक डोरी।।"

राम काव्यधारा

तुलसी का 'रामचरितमानस' हिंदी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है और हिन्दू धर्म तथा संस्कृति का गौरव–ग्रन्थ है। इस प्रकार सैकड़ो कवियों ने भक्तिकाल के साहित्य को विकसित किया है। राम अनन्त हैं, उनके गुण अनन्त है, उनकी कथा अनन्त है। राम के नाना अवतार हैं लोक में उनके चरित्र का निरूपण करने वाली अनेक रामायणें हैं। वास्तव में, रामकथा देश और काल से परे है। उसकी

धारा युग–युग से प्रवाहित होती चली आ रही है तथा अपनी सरसता से कवियों–कलाकारों–भावकों–भक्तों को आनन्दित करती रही है। युगीन परिवर्तनों के बावजूद राम का रूप सर्वत्र मनोहारी तथा प्रभावशाली रहा है।

रामकाव्यधारा की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है–

1. **राम के सगुण साकार रूप की अर्चनाः** राम के दो रूप माने गये हैं एक निर्गुण रूप और दूसरा सगुण रूप। भक्तिकालीन रामकाव्यधारा के कवियों ने निर्गुण राम की नहीं, वरन्, सगुण राम रूप की अवतारणा अपने काव्यों में की है। उन्होंने राम और रामायण को देशकाल तथा जनजीवन के अनुरूप बनाकर प्रस्तुत किया है। राम काव्यधारा में ऐसे विराट् राम की प्रतिष्ठा हुई है और भावुक भक्तों तथा कवियों ने राम के इन्हीं रूपों की अर्चना–वंदना की है। रामकथाओं के लिए राम ही सर्वस्व हैं।

2. **दार्शनिक चेतनाः** भक्तिकालीन राम कथाकार दार्शनिक नहीं, वरन् वे कवि थे। राम कथा के विविध पक्षों का रसमय गायन करना उनका उद्देश्य था। वे कोरे ज्ञान को महत्त्व नहीं देते थे। कोरी शिक्षा उनके समीप मिथ्या थी। 'विनयपत्रिका' में तुलसी ने कहा है–

   "वाक्य-ग्यान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।।
   निसि गह मध्य दीप की बातन्ह तम निवत्त न होई।।"

   राम काव्यधारा की दार्शनिक चेतना पर कई दर्शनों का प्रभाव देखा जा सकता है। रामकथा के कवियों का प्रयोजन रामभक्ति था। वे व्यक्ति मन के कालुष्य को समाप्त कर देना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने 'कलिमल शमन' और 'भव–तरन' के लिए रामभक्ति का सहारा लिया है ।

3. **सामाजिक संवेदनाः** रामभक्ति काव्य की सामाजिक संवेदना बड़ी गहरी है। सामाजिक दष्टि से रामभक्ति काव्य की विशेष महिमा है। जिस समय रामभक्ति काव्य का प्रणयन हो रहा था, उस समय समाज अनेक प्रकार की भ्रांति और अशांति का शिकार था और मुगलों के शासन के कारण भारतीय संस्कृति संकट में पड़ी थी। ऐसे विषम समय में रामभक्ति काव्य प्रणेताओं ने भारतीय समाज को पुनर्गठित तथा भारतीय संस्कृति को पुनर्जागत करने का उपक्रम किया है।

   रामभक्ति का समग्र प्रयत्न आदर्श समाज और आदर्श परिवार की स्थापना का था जिसके आधार पर उन्होंने समपर्ण और प्रेम को अंगीकार किया है, विवेकपूर्ण, कर्त्तव्यपालन को स्वीकार किया है। तुलसी आदि रामभक्ति के कवि वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्षधर थे, इसीलिए वे वर्णाश्रम मर्यादा के विरूद्ध आचरण पर अपना क्षोभ प्रकट करते हैं और वर्णाश्रम व्यवस्था की महत्ता पर बल देते हैं–

   "बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
   चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नही भय सोक न रोग।।"

4. **युगीन समस्याओं का निरूपणः** श्रेष्ठ साहित्यकार तत्कालीन समस्याओं से मुँह मोड़कर साहित्य–सर्जना नहीं कर सकता है। वास्तव में, वह युगबोध से जुड़कर युग को संदेश भी देता है। तुलसीदास आदि रामभक्ति काव्य के श्रेष्ठ कवि है और रामोपासना करते हुए भी उन्होंने अपने युग की समस्याओं को अनदेखा नहीं किया है। अनेक युगीन समस्याओं को रामकथा में यथास्थान निरूपित किया गया है। इतना ही नहीं, उस समय का लोक जीवन विपन्न और कारूणिक था, उसका चित्रण भी 'कवितावली' में चित्रित किया गया है। यथा–

   "खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
   बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।

जीविका विहिन लोग सीघमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों, 'कहाँ जाई, का करी'?
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबन्धु।
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी।।"

5. **समन्वय की विराट् चेष्टाः** भारत, भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य संगम का देश है, यहाँ पर संगम की संस्कृति है और संगम का साहित्य है। संगमधर्मिता इसकी प्रधान प्रवत्ति है। कितनी ही विचारधाराओं के लोग यहाँ आये, बसे। इसी कारण यहाँ समन्वय की विराट् चेष्टा हुई है। यह समन्वय अनेक स्तरों पर दिखाई पड़ता है। देवता–राक्षस और मानव की संस्कृति में संवेदना और शिल्प में समन्वय करके रामभक्ति काव्य में समन्वयवाद को प्रतिष्ठित किया है। समन्वय साधना से संबंधित कुछ पंक्तियाँ द्रष्यव्य हैं–

"प्रेम पुलकि केवट कहिनामू। कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू।
रामसखा रिषि बरबस भेंटा जनु महि लुटत सनेह समेंटा।।"

भक्तिकालीन साहित्य का सारांश

आध्यात्मिकता एवं साहित्यिकता का समन्वय

भक्तिकाव्य में मार्मिक भावनाओं एवं कवित्व का सामंजस्य वर्तमान है। भक्तिकालीन काव्य जैसे 'रामचरितमानस' जहाँ धर्म का उच्चतम रूप हमारे सामने रखता है, वहाँ उसमें उच्चकोटि का कवित्व भी है। यदि उसमें दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भाव की भक्ति का निरूपण है, तो दूसरी ओर उसमें लौकिक जीवन की अभिव्यक्ति भी अत्यन्त सफलता से हुई है। भक्तिकालीन साहित्य भक्तों के हृदय की प्यास बुझाता है, तो काव्यरसिकों को भी रसमग्न कर देने की शक्ति रखता है। 'रामचरितमानस', 'सूरसागर' आदि इस प्रकार के काव्यग्रंथ हैं। इन रचनाओं में भक्तिभाव की गम्भीरता, भाषा की सुकुमारता, अनुभूति की तीव्रता तथा रसोद्रेक की पूर्ण क्षमता है।

लोकमंगल का साहित्य

भक्तिकालीन साहित्य में लोक मंगल की भावना भी निहित है। यद्यपि 'सूर' ने लोकमंगल की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया और वे कृष्ण के लोकरंजन, मधुर और लीलामय रूप में ही मग्न रहे, परन्तु सम्पूर्ण रूप से भक्ति साहित्य में लोकमंगल की भावना प्रमुख है। ये कवि भक्त होने के साथ–साथ समाज सुधारक और जननायक थे। जायसी, कबीर और तुलसी के काव्य में समाज को महान सन्देश दिये गए हैं। तुलसीदास के विषय में आचार्य शुक्ल के शब्द अक्षरशः सत्य हैं–'भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते है, तो इसी महानुभाव (तुलसी) को ही।' इस काल के कवि भक्त, समाज सुधारक लोकनायक एवं भविष्यद्रष्टा थे। कविता के संबंध में तुलसी के शब्दों में उनका आदर्श था।

"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहुँ हित होई।

भक्तिकाल में लोक और परलोक का सामंजस्य है। वह हृदय, मन और आत्मा की प्यास शांत कर सकता है। इसमें काव्यत्व, भक्ति, संस्कृति आध्यात्मिकता का मधुर समन्वय है। इस प्रकार भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग कहना तर्कसंगत एंवा समुचित मालूम पड़ता है।

19. भक्तिकालीन प्रतिनिधि साहित्यकार

19.1 कबीरदास

1. **जन्मः** कबीरदास का जन्म संवत् 1455 में हुआ था। कुछ विद्वान इनका जन्म 1456 में मानते हैं
2. **प्रमुख रचनाएँ**: कबीर की एक ही प्रामाणिक रचना है बीजक जिसके तीन भाग है—सारवी, शब्द, रमैणी।

हिन्दी साहित्य की भक्तिकालीन काव्य—धारा के निर्गुण पंथी कवियों में कबीरदास का स्थान सर्वोच्च है। वे एक महान् विचारक होने के साथ—साथ प्रतिभा सम्पन्न कवि भी थे। उन्होंने सैकड़ों वर्षों से चली आ रही रूढ़ियों को तोड़ डाला। वे एक सच्चे संत, कवि और समाज सुधारक थे।

काव्यगत विशेषताएँ

कबीरदास संत पहले थे कवि बाद में कविता उनके लिए साधन थी, साध्य नहीं। उन्होंने प्रसिद्धि प्राप्ति के लिए काव्य सजन नहीं किया, बल्कि अपने विचारों के प्रचार—प्रसार के लिए काव्य सजन किया। समाज—सुधारक एवं उपदेशक के रूप में उनके क्रान्तिकारी विचारों के दर्शन होते है। कबीरदास बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके काव्य की विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(1) निर्गुण ईश्वर में विश्वास, (2) समाज सुधारक, (3) गुरू महिमा का वर्णन, (4) क्रान्तिकारी विचारक, (5) सदाचार पर बल , (6) रहस्यवाद, (7) भक्ति—भावना, (8) प्रेम भावना, (9) माया के प्रति सावधान, (10) जाति—पाति की भावना का खण्डन आदि।

कबीरदास एक साधु संत, कवि आदि सभी रूपों में थे। समाज सुधारकों में उनका प्रथम स्थान है। उन्होंने व्यावहारिक ज्ञान को सुन्दर रूप दिया। कबीर निर्गुण काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी भक्ति भावना में निम्नलिखित बातें उभरकर सामने आती है।

नाम स्मरण

कबीर की भक्ति में नाम का महत्त्व अत्यधिक है। तुलसी के लिए जिस प्रकार ''राम तैं अधिक राम कर नामू'' है, उसी प्रकार कबीर के लिए भी नाम ब्रह्म है, किन्तु यह नाम स्मरण हाथ में मनका लेकर नहीं करना चाहिए, यह तो मन द्वारा किया जाता है

''माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुआँ तो दस दिसि फिरै, सो तो सुमरिन नाहिं।।''

गुरू की महत्ता पर बल

कबीर की भक्ति में सर्वाधिक महत्त्व गुरू को दिया गया है। सतगुरू की महान् कृपा है, जो भक्त पर अमित उपकार करता है। वह भक्त में अनन्त दष्टि उघाड़ देता है, जिससे वह अनन्त ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है। वह अपने शिष्य के हाथ में ऐसा ज्ञान—दीपक थमा देता है कि वह सन्मार्ग पर सहजतया चल सकता है। कबीर की दष्टि में गुरू का स्थान गोविन्द से भी उच्चतर है, क्योंकि गोविन्द की पहचान तो गुरू ही करता है। कहा भी गया है—

''गुरू गोविन्द दोऊ खड़े काके लागौं पाइ।
बलिहारी गुरू आपने जिन गोविन्द दियो बताइ।।''

माधुर्य भाव

कबीर की आत्मा निराकार ब्रह्म के लिए उसी प्रकार छटपटाती है, जिस प्रकार कोई प्रिय अपने साकार प्रेमी के लिए विकल होता है। राम से बिछुडने पर कबीर को अहर्निश तीव्र वेदना होती है। उसे रात दिन एक क्षण भी सुख नहीं मिलता—

"वासरि सुख ना रैणि सुख, ना सुख सुपनै माहिं।
कबीर विछुट्या राम सूँ। ना सुख धूप न छाँहि।।"

भक्त कबीर की एक ही अभिलाषा है और वह है प्रियतम के दर्शन। यह दर्शन वे अपना सर्वस्व लुटा देने पर भी करना चाहते है—

"यहु तन जारौं मसि करौं, ज्यों धुँआँ जादू सरग्गि।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझानै अग्नि।।"

आचरण की शुद्धता

कबीर की भक्ति में सदाचार का महत्त्व अत्यधिक है। आचरण की अशुद्धता ईश्वर मिलन में बाधक है। कनक और कामिनी के पीछे दौड़ने वालों को उस लौ की प्राप्ति कहाँ

"एक कनक अरू कामिनी दुर्गम घाटी दोइ।

'कामिनी' की तो सभी सन्तों ने बुराई की है। पर यहाँ 'कामिनी' का अर्थ सामान्य नारी से नहीं लिया जाना चाहिए। 'कामिनी' वह नारी है जो काम—वासना में लिप्त रहती है। कामिनी कबीर के लिए काली नागिन के समान है। वे कहते है। कि नारी की झाँई पड़ने से ही भुजंग अन्धा हो जाता है, किन्तु जो सदा ही नारी के साथ रहते हैं उनकी क्या गति होगी—

"नारी की झाँई परत, अन्धा होत भुजंग।
कबिरा उनकी कौन गति, नित नारी के संग।।"

आचरण की शुद्धता पर सत्संगति का बहुत प्रभाव पड़ता है यदि असाधु का संग हो जाए तो भक्ति—मार्ग अवरूद्ध ही हो जाएगा।

"कबिरा संगति साधु की, हरै और की व्याधि।
संगति बुरी असाधु की, आठौं पहर उपाधि।।"

ईश्वर की एकता

परम्परागत हिन्दुओं से कबीर का यही विरोध है कि उनका बहुदेववाद में तनिक भी विश्वास नहीं। हिन्दुजन, अपने इष्ट की न जाने कितने नामों से आराधना करते है। राम, कृष्ण, शिव, महेश, देवी, दुर्गा, भवानी आदि भक्त कबीर इन सबके पीछे एक ही ईश्वर की कल्पना करते हैं। कबीर का ईश्वर कण—कण में व्याप्त है, निराकार एवं निर्गुण है। एक स्थल पर तो उन्होंने राम—रहीम, बिसिमिल—बिसंभर, कृष्ण—करीम की एकता प्रतिपादित की है—

"हमारे राम रहीम करीमा कैसो अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेंटि बिसम्भर एकै और न दूजा कोई।।"

19.2 सूरदास

सूरदास के जन्म स्थान के विषय में विद्वानों में अनेक मत रहे हैं। इस सन्दर्भ में चार स्थानों का उल्लेख हुआ है। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल गोपांथल (ग्वालियर) को, कवि मियाँ सिंह मथुरा में बल्लभगढ़ के पास को सूरदास का जन्म स्थान मानते हैं फिर भी अधिकांश विद्वान हरिदास के मत से सहमत है। उन्होंने इनका जन्म सीही ग्राम (हरियाणा) में इनका जन्म माना हैं जहाँ तक सूरदास की जन्म तिथि का प्रश्न है, पुष्टि सम्प्रदाय के अनुसार सूरदास स्वामी बल्लभाचार्य से आयु में दस दिन छोटे थे। इस आधार पर सूरदास की जन्म तिथि संमवत् 1535 सुदी 5 मंगलवार ठहरती है। कुछ विद्वानों ने उनका जन्म 1540 में माना है।

प्रमुख रचनाएँ

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज के अनुसार सूरदास रचित ग्रन्थों की संख्या पच्चीस बताई जाती है, किन्तु इन रचनाओं में से कुछ अप्रामाणिक है और कुछ सूरसागर की ही अंश है। सूर कृत तीन रचनाएं ही प्रामाणिक मानी जाती है (1) सूरसागर, (2) सूरसारावली, (3) साहित्य लहरी।

काव्यगत विशेषताएं

सूरदास कृष्ण भक्ति शाखा के अन्तर्गत सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। उनकी इस महान् कीर्ति का मुख्य कारण है उनकी प्रगाढ़ भक्ति भावना।

भक्ति भावना

सूरदास सगुण ईश्वर के उपासक थे। इसीलिए उनकी भक्ति को सगुण भक्ति कहते है। भक्ति उनके लिए साधन नहीं साध्य थी। उनकी भक्ति माधुर्य भाव की भक्ति थी, जिसमें आत्म–समर्पण की भावना अति आवश्यक है।

बाल लीला वर्णन

सूरदास ने बालक श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का अत्यन्त मनोहारी ढ़ग से चित्रण प्रस्तुत किया है। उन्होंने श्रीकृष्ण की चेष्टाओं, क्रीड़ाओं और विभिन्न संस्कारों का वर्णन विस्तत रूप से किया है। बाल–मनोविज्ञान के क्षेत्र में सूरदास का कोई जोड़ नहीं है।

वात्सल्य भाव

सूरदास ने पुरूष होते हुए भी माता का हृदय पाया था। उन्होंने माता यशोदा के हृदय के वात्सल्य भावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति की है। मातहृदय के चित्रण में सूरदास को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है।

शृंगार वर्णन

सूरदास भक्त कवि होते हुए भी शृंगार वर्णन के सम्राट कवि माने जाते हैं। शृंगार प्रेम भी उनकी भक्ति का प्रमुख साधन है। सूरदास के शृंगार का वियोग पक्ष अधिक उज्जवल एवं हृदयस्पर्शी है। संयोग में प्रिय की समीपता निरन्तर बनी रहती है।

सूरदास का सम्पूर्ण काव्य गीति काव्य है। अतः उन्होंने गेय पदों की रचना की है। छन्दों के स्थान पर उन्होंने विभिन्न राग–रागिनियों का प्रयोग किया है। फिर भी कवि ने कहीं–कहीं पर दोहा चौपाई छन्दों का भी प्रयोग किया है। सूरदास के काव्य में अलंकारों का भी अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक प्रयोग किया गया हैं।

19.3 तुलसीदास

जीवन परिचय

तुलसीदास के परम शिष्य, बाबा बेणी माधवदास द्वारा रचित 'गोसाई चरित' के अनुसार इनका जन्म श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन, सम्वत् 1554 में हुआ लेकिन अनेक कारणों से विद्वान इस तिथि से सहमत नहीं है। डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार विद्वान इनका जन्म सम्वत् 1589 ई० मानते है। अधिकाश विद्वान इनका जन्म स्थान (उत्तर प्रदेश) बांदा जिले के राजापुर गाँव को मानते हैं अन्य विद्वान सोरों नामक स्थान को इनका जन्म स्थान मानते है। ये सरयूयारी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था। इनका विवाह दीनबन्धु की पुत्री रत्नावली से हुआ।

प्रमुख रचनाएं

तुलसीदास के नाम से 36 रचनाएं जुड़ी हुई है। इनमें से बारह रचनाएं ही प्रामाणिक है। दोहावली, कवितावली, गीतावली, कृष्णगीतावली, विनय पत्रिका, राचरितमानस, इत्यादि महत्त्वपूर्ण रचनाएं समाहित हुई है।

काव्यगत विशेषताएं

1. **विषय की व्यापकताः** तुलसीदास ने अपने युग का गहन एवं गंभीर अध्ययन किया है। उन्होंने अपने युग के जीवन के लगभग सभी पक्षों पर लेखनी चलाई है। उनके काव्य में धर्म, दर्शन, संस्कृति, भक्ति, कला आदि का सुन्दर समन्वय हुआ है। विभिन्न भावों और सभी रसों को उनकी रचनाओं में स्थान मिला है।

2. **श्रीराम का स्वरूपः** महाकवि तुलसीदास ने अपने काव्य में श्रीराम को विष्णु का अवतार मानते हुए उसके सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों का उल्लेख किया है। श्री राम को धर्म का रक्षक और अधर्म का विनाश करने वाला माना है। उन्होंने श्रीराम के चरित्र में शील, सौन्दर्य एवं शक्ति का समन्वय प्रस्तुत किया है।

3. **समन्वय की भावना**: तुलसीदास के काव्य में समन्वय की भावना का अद्भुत चित्रण हुआ है। तत्कालीन समाज में धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी समस्याओं का किसी–न–किसी रूप में उल्लेख हुआ है।

4. **दार्शनिक भावना**: तुलसीदास का सम्पूर्ण काव्य दार्शनिक पष्ठभूमि पर आधारित है। तुलसीदास ने दर्शन के नीरस सिद्धान्त को भावपूर्ण एवं कोमल भाषा में बड़ी सफलता पूर्वक उद्घाटित किया है। तुलसीदास ने विविध दार्शनिक मतों को ग्रहण करते हुए भी उनमें तारतम्य बैठाकर उनका अद्भुत समन्वय किया है। उनकी दार्शनिक विचारधारा मौलिकतापूर्ण है।

5. **प्रकृति-चित्रण**: तुलसीदास ने प्रकृति का अत्यन्त मनोरम चित्रण किया है। तुलसी काव्य में प्रकृति के विभिन्न रूपों का चित्रण किया गया है। उनके काव्य में वन, नदी, पर्वत, पक्षी आदि का विस्तत वर्णन मिलता है।

6. **प्रबन्ध योजना**: तुलसी की प्रबन्ध–योजना अद्वितीय है। उनकी लगभग सभी रचनाओं में कथा–सूत्र पाया जाता है। रामचरितमानस की प्रबन्ध–पटुता सर्वश्रेष्ठ है। सारी कथा मार्मिक प्रसंगों से भरी पड़ी है।

7. **कला-पक्ष**: तुलसी के काव्य का कला–पक्ष काफी समुन्नत एवं विकसित है। उन्होंने अपने समय की प्रसिद्ध अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं में काव्य रचना की। 'रामचरितमानस' में अवधी तथा 'विनय पत्रिका' में ब्रज भाषा का सफल प्रयोग हुआ है।

8. **मत्यु** : तुलसीदास सम्वत् 1680 को श्रावण शुक्ला की सप्तमी को अपना नश्वर शरीर त्याग कर प्रभु शरण में चले गये।

19.4 मीराबाई

जीवन परिचय

मीराबाई का जन्म सम्वत् 1555 में राव दादू के चौथे पुत्र रत्नसिंह के घर हुआ बताते हैं। बाल्यकाल में ही इनकी माता चल बसी। इसलिए इनके पितामह ने इनका लालन–पालन किया। इनके पितामह अत्यन्त धार्मिक प्रवति के थे जिसका प्रभाव मीराबाई पर भी पड़ा। बचपन से ही साधु–सन्तों की संगति और दर्शनों के कारण इनके हृदय में भगवद् भक्ति के अंकुर फूट पड़े थे। बारह वर्ष की अल्पआयु में ही मीरा का विवाह मेंवाड़ के महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से हो गया, किन्तु मीरा अधिक देर तक दाम्पत्य जीवन का सुख न भोग सकी और जल्द की विधवा हो गई। अब मीरा का अत्यधिक समय साधु–संतों की संगति में बीतने लगा। राजकुल पहले ही इनके आचार–व्यवहार से रूष्ट था। पति भोजराज व महाराणा साँगा (ससुर) की मत्यु के पश्चात् तो मीरा पर अत्याचार और भी बढ़ते चले गए। परिणामस्वरूप मीरा ने राजमहल त्याग दिया।

प्रमुख रचनाएं

'नरसी जी का माहरो', 'गीत गोविन्द की टीका', 'मीरानी गरबी', 'मीरा के पद', 'राग सोरठ के पद', 'रास गोविन्द' तथा 'मीराबाई की मलार' और कुछ फुटकर पद आदि उल्लेखनीय रचनाएं है। मीराबाई के फुटकर पद लगभग 200 के करीब हैं।

काव्यगत विशेषताएं

1 **भक्ति भावना**: भारतीय भक्त कवियों में मीराबाई का स्थान सर्वोपरि है। सूर की भक्ति की भाँति मीराबाई की भक्ति भी माधुर्य–भाव की भक्ति है। कहीं–कहीं पर तो मीरा ने सूर और तुलसी को भी पीछे छोड़ दिया है। तुलसी की भक्ति दास्य–भाव की भक्ति है सूर की भक्ति माधुर्य–भाव की भक्ति है, लेकिन मीराबाई तो स्वयं राधा बन गई और भगवान् श्रीकृष्ण को ही अपना पति मानने लगी।

2. **विरह भावना**: मीरा के काव्य में श्रृंगार वर्णन हुआ है। मीरा के काव्य में संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष को अधिक स्थान प्राप्त हुआ हैं। मीरा के विरह की अनुभूति विस्तत एवं गहन है। विरह–वर्णन की दष्टि से मीरा का स्थान सम्पूर्ण हिंदी साहित्य में श्रेष्ठ है। इनका विरह वर्णन जायसी एवं सूरदास से बढ़कर है।

3. **रहस्यानुभूति**: सगुण ईश्वर की पुजारिन होते हुए भी मीरा के काव्य में विभिन्न स्थलों पर रहस्यमयी भावनाओं का वर्णन हुआ है। इसलिए उनको रहस्यवादी कवयित्री भी कहा जा सकता है।

4. **गीति-तत्त्व की प्रधानता**: मीरा के काव्य की प्रमुख विशेषता 'गेयता' है। निश्चित रूप से मीरा का काव्य गीति–काव्य है। गीति काव्य की सभी विशेषताएं आत्माभिव्यक्ति, संक्षिप्तता, तीव्रता, संगीतात्मकता, भावात्मकता आदि उनके काव्य में देखी जा सकती है।

5. **भाषा शैली**: मीरा के काव्य में भाषा शैली अत्यन्त मार्मिक एवं सरस व सरल है। उनकी भाषा में सर्वत्र एकरूपता नही है। उन्होंने कही राजस्थानी का प्रयोग किया है तो कही ब्रज और गुजराती का।

अंत में यही कहा जा सकता है कि मीराबाई भक्तिकालीन शिरोमणि कवियों में से एक थीं। उनका काव्य चरमोत्कर्ष की सीमा है।

अध्याय – 4

हिंदी साहित्य का रीतिकाल

20. नामकरण

रीतिकाल के नामकरण को लेकर भी विद्वानों में मतभेद रहा है। हिंदी साहित्य का सर्वप्रथम काल–विभाजन करने वालों में, जार्ज ग्रियर्सन का नाम आता है। जिन्होंने इसे रीतिकाव्य नाम दिया। आगे चलकर मिश्र बन्धुओं ने इसे दो भागों में विभाजित करते हुए पूर्वालंकृत काल से उत्तरालंकृत काल की संज्ञा दी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे आरम्भ में तो उत्तर मध्यकाल तथा रीतिकाल का नाम दिया परन्तु इसे श्ंगार काल कहने की भी छूट देते हुए लिखा, "इस काल को रस के विचार से कोई श्ंगारकाल कहे तो कह सकता है।" इस प्रकार आचार्य शुक्ल तक इस काल के कई नाम सामने आ गए। जैसे रीतिकाल, पूर्व तथा उत्तर अलंकृतकाल, उत्तर मध्यकाल, रीतिकाल तथा श्ंगारकाल इत्यादि। अब इन्हीं नामों तथा अन्य लेखकों द्वारा सुझाये गए नामों की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

किसी भी भाषा के साहित्यिक इतिहास का काल–विभाज तथा नामकरण करते हुए रचनाओं की बहुलता, साहित्यकारों में प्रमुख तत्कालीन साहित्य की मुख्य प्रवत्ति के आधार पर किया जाना ही अधिक तर्कसंगत माना जाता है। जार्ज ग्रियर्सन ने तुलसीदास के बाद जिसे रीतिकाल कहा है वह इसलिए माना जाता है कि रीतिकाल में जो रचनाएँ रची गई उनमें एक विशेष प्रकार की काव्य–शैली को रीतिकाल कहा गया। मिश्रबन्धुओं ने इस काल को अलंकृत काल इसलिए कहा, क्योंकि इस काल की रचनाओं में काव्य के अलंकरण पर ही अधिक ध्यान केन्द्रित रहा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सुझाये गये नामों के विषय में कह सकते हैं कि उन्होंने मनोविज्ञान तथा तत्कालीन साहित्य की विशेष अभिरूचि तथा प्रवत्ति विशेष को ध्यान में रखते हुए तीन नाम सुझाए। आचार्य शुक्ल ने तत्कालीन काव्य पद्धति विशेष अर्थात् रीति–विशेष के आधार पर इसे रीतिकाल कहना ही उचित समझा है।

रीतिकाल के नामकरण के संबंध में और भी विचार सामने आते हैं। मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' नामक हिंदी साहित्य के इतिहास में इस काल को 'अलंकृत काल' नाम दिया था। उनका कहने का आशय यह था कि इस युग में कविता को अलंकृत काल नाम दिया जाना चाहिए। मिश्रबन्धुओं का तर्क बहुत सशक्त नहीं माना गया। उन्होंने इस युग की कविताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि यह कविता अलंकृत है यानि अलंकारों के आग्रह से युक्त है। पर क्या केवल अलंकारों की ही निहित इस काल की कविता में है। रसानुभूति की दष्टि से इस काल की कविता का मूल्य किसी से कम नहीं है। ध्वनि और वक्रता भी उसमें पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इसलिए केवल अलंकारों का आग्रह इंगित करना, इतना अधिक समीचीन नहीं है जिसके कारण कि इस युग का नामकरण ही उस आधार पर कर दिया जाए। दूसरी बात यह है कि इस काल से पहले या बाद में भी जहाँ अधिक अलंकृत कविताएँ सामने आती हैं तो उनका नामकरण भी क्या अलंकारों के आधार पर करने की सोच सकते हैं। इसलिए मिश्र–बन्धुओं ने जिस प्रवत्ति का अभियान करके इस काल को 'अलंकृत काल' कहा है वह एकांगी और अपूर्ण लगती है।

1. **डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'** ने रीतिकाल का नाम 'कला–काल' माना है। 'कला–काल से तात्पर्य उस काल से है, जिसमें हिंदी क्षेत्र में काव्य को कलापूर्ण किया गया, अर्थात् उसमें काव्य के चमत्कृत एवं चातुर्यपूर्ण गुणों को ध्यान में रखकर रचनाएँ की गई और साथ ही कला के नियम से संबंध रखने वाले रीति या लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई। इस नाम के देने में रीतिकाल काव्य के बाह्य पक्ष पर तो प्रकाश पड़ता है पर उसकी एक बड़ी विशेषता श्रंगारिकता की उपेक्षा हो जाती है। यह नाम प्रायः उसी तरह का है जैसे ग्रीव्ज या मिश्रबन्धुओं ने दिया है। हिंदी साहित्य में इसे भी स्वीकार नहीं किया है।

2. **डा० भागीरथ मिश्र** : डा० भागीरथ मिश्र ने हिंदी साहित्य के इस युग का नाम 'रीति श्रंगार' काल रखा है। वे मानते हैं कि श्रंगार की प्रवत्ति रीतिकाल की एक विशेषता है जिसे सभी स्वीकार करते हैं पर उसके साथ ही उस युग के साहित्य की चेतना है 'पद्धति परकता' एक पैटर्न के काव्य की रचना करने की पद्धति परकता से अलग भी कुछ कवि रीतिकाल में थे। घनानंद, बोधा, आलक, ठाकुर आदि की कविता को उस रीतिकाल पद्धति से अलग कर पाते हैं। बिहारी और घनानंद पद्धति एक नहीं है। अतः रीति श्रंगार नामकरण की बात भी विद्वानों को उसी प्रकार स्वीकार्य नहीं है जैसे 'कला–साहित्य' की।

3. **पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र :** इस काल को पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'श्रंगार काल' के नाम से अभिहित किया है। उनकी मान्यता यह है कि इस युग की एक बड़ी प्रवत्ति श्रंगार की थी। इसलिए इस युग को 'श्रंगार काल' के नाम से पुकारा जाना चाहिए। 'श्रंगार काल' की मीमांसा करने पर भी यही सिद्ध होता है कि यह नाम भी उपयुक्त नहीं है। पं० मिश्र ने यह देखकर इस काल का नाम श्रंगार काल दिया है क्योंकि इस काल की कविता में श्रंगार की प्रवत्ति बहुत अधिक है। बात यह है कि श्रंगार वर्णन की प्रवत्ति इस कविता में धन की प्राप्ति के लिए आई। राजाओं की वासना को तप्त करने के लिए श्रंगार–वर्णन हुआ है। कवियों द्वारा अपने मन से वह यह निकला अन्यथा भिखारी यह क्यों कहते–

"आगे के कतिव रीझिहैं तो कविताई न तो,
राधिका कनहाई सुमिरन को बहानौ है।"

इस काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होंने श्रंगार को प्रमुखता नहीं दी। कुछ कवि तो ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने लक्षण–गन्थों की रचना करके भी श्रंगार को कोई स्थान नहीं दिया। इसलिए इसकाल की श्रंगारिकता के मूल में कवि की अपनी रुचि न होकर आश्रयदाता की रुचि थी। इस काल में श्रंगार के अतिरिक्त नीति प्रकृति–चित्रण आदि की कविताओं की भी कमी नहीं है। सभी प्रकार की कविताओं की प्रवत्ति श्रंगार की कैसे मानी जा सकती है। इसीलिए इस काल को 'श्रंगार काल' के नाम जो दिया गया, वह इतना उपयुक्त नहीं लगता। इसलिए इस काल का नाम 'रीतिकाल' देना अधिक समीचीन है। रीति की प्रवत्ति के अन्तर्गत लक्षण ग्रन्थ भी आ जाएँगे श्रंगार की रचनाएं भी और श्रंगारेत्तर रचनाएँ भी, क्योंकि लक्षण बताने और उसके अनुसार कविता करने की रीति सभी प्रकार की कविताओं में देखने में आती है। अतः इस काल का नाम 'रीतिकाल' सबसे अधिक उपयुक्त है।

आज हिंदी साहित्य के लगभग सभी विद्वान, आलोचक तथा साहित्य के इतिहास–लेखक यह स्वीकार करते हैं कि इस काल का नाम 'रीतिकाल' ही उचित है क्योंकि उसमें तत्कालीन कवियों की काव्य–रचना पद्धति एवं काव्य–शिक्षा दोनों ही बातें आ जाती हैं। रीतिकाल का नामकरण करने के पश्चात् एक और बात भी विद्वानों में मतभेद का विषय बनी हुई है कि रीतिकाल का संस्थानक आचार्य किसे माना जाये ? इस विषय में विद्वानों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग तो आचार्य केशव को रीतिकाल का संस्थापक मानता है और दूसरा वर्ग आचार्य केशव के बाद होने वाले आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी को ही रीतिकाल का संस्थापक तथा प्रवर्त्तक मानता है। इस मतभेद को उत्पन्न करने वालों में सर्वप्रथम तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ही हैं, क्योंकि उनके मतानुसार तो केशवदास की गणना भक्तिकालीन

कवियों में की जानी चाहिए क्योंकि कालक्रम के अनुसार केशवदास संवत् 1612 से 1674 तक जीवित रहे। इसके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल यह भी तर्क देते हैं कि आचार्य केशव ने अपने लक्षण ग्रंथों में संस्कृत के अलंकारवादियों भामह, दण्डी, उद्भट, रूप्पक आदि की पद्धति को अपनाया। शुक्ल ने यह भी कहा है कि केशव ने जिन अलंकारवादी आचार्यों के संस्कृत समीक्षा–शास्त्र से अलंकार संबंधी सामग्री ग्रहण की उसमें अलंकार तथा अलंकार्य का भेद स्पष्ट नहीं था। उन्होंने तो रस को अलंकार ही मान लिया था। केशव के विपरीत चिन्तामणि त्रिपाठी ने तथा उनके पीछे चलने वाले रीति–कवियों ने अलंकारों का वर्णन 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर किया।

उपर्युक्त कथनों से तथा ऐसे ही कुछ अन्य वक्तव्यों से यह मतभेद बढ़ता ही गया, परन्तु निष्पक्ष होकर विवेचना करने पर जो निर्णय लिया जाये वह उचित ही कहा जायेगा। यह ठीक है कि आचार्य केशव को कालक्रम के अनुसार भक्तिकाल में लिया जा सकता है परन्तु केवल कालक्रम को ही एकमात्र आधार नहीं माना जा सकता। जहाँ तक केशव की रीति–पद्धति का प्रश्न है वह चाहे दण्डी तथा उद्भट से प्रभावित हो अथवा पोषित हो अथवा अन्य किसी से, है तो रीति पद्धति ही। आचार्य चिन्तामणि द्वारा अपनायी गई काव्य रचना तथा साहित्य साधना की पद्धति भी रीति पद्धति ही है। जिसे उन्होंने रसवादियों, रीतिवादियों, ध्वनिवादियों आदि के अतिरिक्त चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द आदि अलंकारवादियों से प्रेरणा ग्रहण करके अपनाया है।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि हिंदी रीतिकाल के संस्थापाक आचार्य केशवदास ही हैं। जिन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र को लोकभाषा यानि ब्रजमिश्रित अवधी में प्रस्तुत करके आगे आने वाले कवि–आचार्यों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। अतः काल का नाम 'रीतिकाल' सबसे अधिक उपयुक्त है।

21. रीतिकालीन परिवेश

ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक

21.1. ऐतिहासिक परिवेश

हिंदी साहित्य के इतिहास में संवत् 1700 से 1900 तक का समय था जब भारत में मुगलों का राज्य था। मुगलों के वैभव–विलास और विजय–वत्तान्त के अनेक उदाहरण इस बात के प्रमाण है कि उस समय बादशाहों का उत्कर्ष चरम अवस्था पर पहुँचा हुआ था। शासक समर्थ थे और जैसे ही युद्ध से अवकाश मिलता था, विलासिता में डूबे रहते थे। इसका परिणाम यह भी हो रहा था कि जिस शासन को अकबर ने अपनी नीति से दढ़ बनाया और जहाँगीर ने भी अच्छी तरह संभाला वह शाहजहाँ के समय से मुगल–काल उत्कर्ष के बिन्दु से नीचे गिरने लगा था। इस संबंध में डा. नगेन्द्र का मत है कि–"जिस प्रकार साहित्य के इतिहास में भक्ति काव्य के चरम वैभव के बाद संवत् 1700 के आस–पास से ही कविता क्षयग्रस्त होने लगी थी, ठीक उसी प्रकार राजनैतिक इतिहास में मुगल–साम्राज्य भी अपने सम्पूर्ण यौवन को प्राप्त करने के उपरान्त ह्रासोन्मुख हो चला था।"

मध्ययुग में समाज सामन्तवादी पद्धति का था। उच्च वर्ग के राजा और सामन्तों का जीवन, वैभव से पूर्ण था। दिल्ली के अनुकरण पर छोटे–छोटे राजाओं में भी वैभव–विलास की प्रवत्ति थी। उपवन और रमणीय विहार–स्थल उस समय के समाज के लिए वंदनीय थे। पुष्प, इत्र, गंध, फव्वारे और अन्य विलास सामग्री राजा और सामन्तों को तप्ति देती थीं। इस तरह के समाज का कवियों की रचनाओं पर भी असर पड़ा। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है–"शृंगार–वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया। इसमें जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाताओं की रुचि थी, जिनके लिए वीरता और कर्मण्यता का जीवन बहुत कम रह गया था।" रीतिकाल में निम्न वर्ग का

जीवन सदा की भाँति उपेक्षित था। उनकी आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं थी। कवि और कलाकारों का वर्ग राजा लोगों के यहाँ रहता था जो वैसे ही उच्च आशाएँ–आकांक्षाएँ रखता था।

तत्कालीन समय में मुगलों की उत्तराधिकार की नियम हीनता ने अशांति और संघर्ष का वातावरण बना दिया। देश के अन्य भागों में भी इसी तरह के विद्रोह और संघर्ष के तेवर बढ़ रहे थे। अकबर के राजपूत सहयोगी नीति को औरंगजेब ने ध्वस्त करके जयपुर पर अधिकार किया तो मरवाह और मेवात सभी मुगलों के विरुद्ध हुए संघर्ष करते रहे।

शाहजहाँ के समय में स्थापत्य–कला की विशेष उन्नति हुई, दिल्ली का लाल किला और जामा मस्जिद, मोती मस्जिद, दीवाने आम, ताजमहल आदि उसकी वास्तु कलाप्रियता के प्रमाण हैं। वह साहित्य प्रेमी भी था, तथा फारसी, संस्कृत और हिंदी के कवियों को संरक्षण प्रदान करता था। पंडितराज जगन्नाथ, आचार्य सरस्वती आदि कवि उसके दरबार से सम्बद्ध थे। प्रमुख रीतिकालीन कवि चिन्तामणि उसके कृपापात्र थे। इसके समय में ज्योतिष, अंकगणित, बीजगणित आदि में पर्याप्त प्रगति हुई। औरंगजेब ने लगभग अर्द्ध शताब्दी तक शासन किया। उसका साम्राज्य धार्मिक कट्टरता, अत्याचार एवं अन्याय का शासन रहा। उसकी संकीर्णता के फलस्वरूप जाट, सिक्ख, राजपूत, मराठा आदि सभी उसके विरोधी हो गये। हिन्दू मन्दिरों और पाठशालाओं को तोड़ने की आज्ञा दे दी गयी। काव्य कला से वह घृणा करता था। उसने कलाविदों को दरबार से निकाल दिया। अतः उनको ओरछा, कोटा, बूँदी, जोधपुर आदि राज्यों में शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार औरंगजेब का अधिकांश समय विरोधियों का दमन करने में बीता। औरंगजेब के बाद थोड़े–थोड़े समय के लिए अनेक मुगल शासक हुए, लेकिन उनका समय अकर्मण्यता, अयोग्यता, विलासिता आदि का इतिहास है।

21.2 सामाजिक परिवेश

रीतिकालीन काव्य की सर्जना भी सामाजिक परिवेश सम्राट के आतंक और जनसाधारण के दैन्य की परिस्थिति है। राजा बादशाह का प्रभुत्व लिए शासक वर्ग था जो शासन को चलाने वाले थे, दूसरे गरीब किसान, व्यापारी, दुकानदार थे। इतिहासकारों ने इन्हें क्रमशः योद्धा वर्ग और उत्पादक वर्ग कहा है। उनकी स्थिति को स्पष्ट करते हुए डा० ईश्वरी प्रसाद ने कहा है–"भोक्ता वर्ग सम्राट के परिवार और दरबारों से लेकर उनके नौकर चाकर और दासों तक फैला हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति था अतएव उत्पादक वर्ग पर इसका पूर्ण प्रभुत्व था। सामाजिक स्थिति भी उनकी श्रेष्ठ थी। इन दोनों के बीच बहुत बड़ा अन्तर था–शासक और शाषित–शोषक और शोषित का।"

इस समय का एक समाज मुगलों का परिवार और उनके दरबारी सामन्तों का था। बहुमूल्य आभूषण, हीरे, जवाहरात, रत्न, माणिक, स्वर्ण, रजत आदि के बेहद प्रयोग से ऐश्वर्य का पता चलता था। स्त्रियों के आभूषण और इत्र, फुलेल, श्रृंगार प्रसाधनों का जिस दरबार में प्रसार था उसने उस समय के कवियों को काव्य में तरह–तरह की साज सज्जा को चित्रित करने की एक दष्टि अच्छी प्रकार दे रखी थी। श्रृंगार और वैभव विलास सुरा सुराही के ऐसे चित्रण रीतिकाव्य में इसी से बड़े स्वाभाविक रूप में मिलते हैं। इस तरह का एक बड़ा प्रसिद्ध कवित्त कविवर पद्माकर द्वारा रचित इस प्रकार रहा है–

"शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्है,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला है विनोद के रसाला हैं,
सुबाला है दुशाला है बिशाला चित्रशाला हैं।।"

वैभव विलास के इस समाज में क्रीड़ा और मनोविनोद के तत्कालीन प्रचलित साधनों की कमी नहीं थी। शतरंज चौसर का खेल, तोता मैना कबूतर को पालना, शिकार और जानवरों की लड़ाई के शौकीन ये लोग श्रमिक दलित वर्ग के दुःख अभाव से अपरिचित होकर जीवन जी रहे थे।

स्त्रियों की समाजिक स्थिति दयनीय थी। वे पुरुष की सम्पत्ति अथवा भोग्या मात्र थीं। किसी कन्या के अपहरण अभिजात वर्ग के लोगों के लिए साधारण बात थी। कदाचित् इसीलिए अल्पायु में लड़कियों का विवाह अधिक प्रचलित हो गया था। बेगमों और रक्षिताओं की अगिनत संख्या के होते हुए भी लोग वेश्याओं के यहाँ पड़े रहते थे—उनके इशारों पर लोगों के भाग्य का निर्णय तक हो जाया करता था। वस्तुतः भारतीय इतिहास में यह घोर पतन का युग था। रीतिकालीन कवियों द्वारा नारी के चित्रण से उसी समाजिक परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः इस काल का कवि अपने आश्रयदाताओं के भोगपरक जीवन करे देखकर ओर उस प्रकार के जीवन को यश और सम्मान का कारण समझ कर उसे कल्पना और वाग्वैदग्ध्य के बल पर अपनी चरम सीमा तक घसीट ले जाने के लिए मजबूर था।

इसके अतिरिक्त समाज का एक और भी वर्ग था वह था विद्वान और कवि कलाकारों का। ये प्रायः छोटे वर्ग से आये हुये होते थे। परन्तु बादशाह और राजा—सामन्तों के आश्रय में रहते थे। इनकी कला का पुरस्कार बड़े लोग ही दे सकते थे। इसलिए ये उनके आश्रय में रहते थे और उसी तरह का तेवर रखते थे। कई कवि तो जैसे केशव, बिहारी, भूषण तो राजाओं की तरह ही रहते थे। मुगल साम्राज्य के पतन की परिस्थिति का इन कवि—कलाकारों पर भी प्रभाव पड़ा। दिल्ली के बादशाह औरंगजेब के बाद दिल्ली में स्थायी शासन न होने से ये कलावन्त छोटे—छोटे राजा, नवाब, सामन्तों और रईसों के आश्रय में रहने लगे। रीतिकाल के कवियों के समाज का यह जीवित सत्य है।

21.3 सांस्कृतिक परिवेश

तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक अवस्था के समान इस युग में देश की धार्मिक—सांस्कृतिक स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा संतों और सूफियों के उपदेशों के कारण हिन्दू और इस्लाम संस्कृतियों के निकट आने का जो उपक्रम हुआ था, वह औरंगजेब की कट्टरता के कारण एक प्रकार से समाप्त हो चला था। भक्तिकाल में काव्य की जो चार धारायें प्रारम्भ हुई थीं वे किसी न किसी रूप में इस युग में भी वर्तमान थीं किन्तु उनकी आध्यात्मिक गरिमा संत और भक्त कवियों की अपने उपास्य के प्रति अनन्य निष्ठा, स्वान्तः सुखाय काव्य—रचना का संकल्प, राजकीय वैभव की उपेक्षा और लोकमंगल की भावना धीरे—धीरे समाप्त हो रही थी। संत कवियों की बाह्याचार विरोधमूलक वत्ति और सूफियों के प्रेम की पीर का कुछ प्रभाव समाज पर अवश्य पड़ा था। इस आलोच्यकालीन युग में भी पुरानी परम्परा के सूफी तथा संत विद्यमान थे, पर किसी में भी कबीर, नानक अथवा जायसी जैसा व्यक्तित्व और प्रतिभा नहीं थी, जो जन—जीवन को प्रभावित कर सकती। ये लोग पूर्ववर्तियों की वाणी के मात्र प्रचारक थे। इस युग में रामकाव्य—धारा की पूर्व परम्परा एक प्रकार से अवरुद्ध सी हो गयी थी और उसमें जो रसिक सम्प्रदाय पनप रहा था, उसमें घोर श्रंगारिकता आ गयी थी। सूरदास एवं अष्टछाप के अन्य कवियों ने राधाकृष्ण के प्रेम का खुलकर वर्णन किया था। यद्यपि उसके मूल में आध्यात्मिक चेतना प्रखर रूप से विद्यमान थी, किन्तु रीतिकाल तक आते—आते भक्ति और अध्यात्म का आवरण क्षीण होता गया और लौकिक श्रंगार प्रबल होता गया। रीतिकाल के लगभग सभी कवियों ने प्रेम—वर्णन में सम्मान के साथ राधाकृष्ण का नाम लिया किन्तु श्रंगार का अतिरंजनात्मक वर्णन किया।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस युग में देश की सांस्कृतिक अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा संतों और सूफियों के परिणामस्वरूप हिन्दू और इस्लाम एक—दूसरे के विरुद्ध होने लगे थे। वैष्णव सम्प्रदायों के मठाधीश राजाओं और सामन्तों को गुरुदीक्षा देने में गौरव का अनुभव करने लगे थे मन्दिरों में अब ऐश्वर्य और विलास की लीला होने लगी थी। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई थी कि हिन्दू अपने आराध्य राम—कृष्ण का अतिशय श्रंगार ही नहीं करने लगे थे, उनकी लीलाओं में अपने विलासी जीवन की संगति खोजने लगे थे। धर्म

का नैतिकता के साथ संबंध विछिन्न हो गया। जनता के अन्धविश्वासों का लाभ पुजारी और मुल्ला उठाते थे और धर्म स्थान भ्रष्टाचार तथा पापाचार के केन्द्र बन गए थे।

21.4 साहित्यिक परिवेश

साहित्य और कला की दष्टि से यह युग पर्याप्त समद्ध कहा जा सकता है। इस काल के कवि और कलाकार यद्यपि साधारण वर्ग के व्यक्ति थे, तथापि उन्हें अपने आश्रयदाता मुगल–सम्राटों या देशी नवाबों से इतना सम्मान मिलता था कि समाज के प्रतिष्ठित लोगों में उनकी गिनती की जाती थी। मुगल दरबार की भाषा फारसी थी। उस समय फारसी शैली मजदूं आदि की रोमानी कहानियाँ भी निबद्ध हो रही थीं। जिनका प्रभाव रीतिकालीन हिंदी साहित्य पर स्पष्ट देखा जा सकता है। शाहजहाँ आत्म–प्रशंसा सुनने का अत्यन्त प्रेमी था। ब्रजभाषा जन–जीवन के निकट होते हुए भी फारसी के प्रभाव से न बच सकी। विलासी आश्रयदाताओं की वासना को गुदगुदाने के लिए लिखी हुई शंगारिक रचनाओं पर भी इस शैली का ऐसा ही प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। परन्तु संयोग से ये कवि चमत्कार के उपकरणों के लिए फारसी की ओर उन्मुख न होकर संस्कृत की ओर उन्मुख हुए। इतना ही नहीं, इन लोगों ने इन उपकरणों का निरूपण भी इतने मनोयोगपूर्वक किया कि आज पद्धति अथवा रीति के कारण ही इस युग को रीतिकाल की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त समझा जाता है। इधर जन–समुदाय के ऐसे कवि भी विद्यमान थे, जो स्वतंत्र रूप से काव्य की रचना कर रहे थे।

प्रदर्शन–प्रधान रीतिकालीन चित्रकला नायक–नायिकाओं की बंधी–बंधाई प्रतिकृतियाँ तैयार होती रहीं। उस समय की चित्रकला की नायक–नायिकाओं के रूढिबद्ध चित्र, पौराणिक कथाओं पर आधारित चित्र तथा राग–रागनियों के प्रतीक चित्रों का बाहुल्य है। कृष्ण और राधा के तो उस युग में अश्लील चित्र बने थे, साथ ही साथ शिव–पार्वती को भी उसी कोटि में लाकर खड़ा कर दिया।

काव्य और चित्रकला के अतिरिक्त इस युग में स्थापत्य–कला और संगीत कला का भी विशिष्ट स्थान रहा। मुगल सम्राट शाहजहाँ को यद्यपि संगीत का अच्छा ज्ञान था। तथापि उसकी रुचि स्थापत्य कला में अधिक रहीं। शाहजहाँ ने जितनी इमारतें बनवायीं, उन सबमें सूक्ष्म सौन्दर्य पर अधिक ध्यान दिया गया है। आगरा का 'ताज' और दिल्ली का 'दिवाने खास' इसके सशक्त उदाहरण हैं। इस काल में कवियों और कलाकारों को राजाश्रयों में यथोचित सम्मान प्राप्त होने के कारयण साहित्य और कला की स्थिति कुल मिलाकर अच्छी रही। किन्तु अलंकारप्रिय विलासी आश्रयदाताओं की अभिरुचि से अत्यधिक प्रभावित रहने के कारण इनमें से किसी का भी क्षेत्र गुण की दष्टि से विशद् न हो सका।

हिंदी रीतिकाल को मानव–मूल्यों के मापदण्ड पर पतनोन्मुख ही कहा जायेगा क्योंकि प्राकृतिक प्रतिभा को कुंठित करके आरोपित मूल्यों को कोई भी प्रबुद्ध आलोचक उचित नहीं कह सकता। इसीलिए शीतकालीन हिंदी साहित्य में जो शंगार एवं अलंकरण की प्रवत्ति देखी जाती है वह प्रदर्शन की भावना ही है। रीतिकालीन साहित्य की उपलब्धि मौलिक रचनाओं में नहीं देखी जा सकती, क्योंकि मौलिक रचनाएँ तो बहुत ही कम लिखी गई।

22. रीतीकालीन दरबारी संस्कृति और लक्षण ग्रन्थ

रीतिकालीन दरबारी संस्कृति सांस्कृतिक अवन्ति से परिपूर्ण समय था। इसमें संस्कृति का विचारपक्ष बड़ा दुर्लभ था। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों ही बादशाहों के दरबारों में अद्भुत वैभव तो था, लेकिन अतप्त विलास और वासना का सागर भी उमड़ रहा था। औरंगजेब तो इन दोनों से विलग था। उसका संस्कृति और विलास–वैभव के प्रक्षय से कुछ भी लेना–देना नहीं था। दरबारी संस्कृति चमत्कार, आडम्बर, प्रतिस्पर्द्धा, शंगारिकता आदि से युक्त थी जिसमें जीवन्तता के स्थान पर मात्र परम्परा का अन्धानुपालन था। रीतिकालीन काव्य और दरबारी संस्कृति दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं।

रीतिकालीन के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को सामान्य नर के रूप में चित्रित न करके दिव्य और अलौकिक गुणों से मंडित करके चित्रित किया है। कवियों ने राजाओं को अवतारी पुरुष के रूप में महिमा–मंडित किया है। भूषण ने अपने आश्रयदाता शिवजी को कहीं विष्णु को और कहीं राम का अवतार माना है। रीतिकालीन कवियों द्वारा स्वामिभक्ति का प्रदर्शन भी दरबारी संस्कृति का अंग रहा है। स्वामिभक्ति के लिए जयसिंह, रत्नसिंह आदि राजाओं द्वारा उल्लेख मिलता है। दरबारी संस्कृति की अभिरुचि का केन्द्र–श्ंगार और काव्यशास्त्र था। काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, नायिकाभेद आदि ही प्रधान प्रतिपाद्य विषय थे। सामंती वैभव और सामंती समाज का चित्रण भी रीतिकालीन दरबारी संस्कृति की एक प्रवत्ति थी। रीतिकालीन सामंती समाज वैभव और ऐश्वर्य की पराकाष्ठा का समाज था। रीतिकालीन अनेक कवियों ने इस वैभव का बड़ा ही चमत्कारी और अलंकारी वर्णन प्रस्तुत किया है।

साहित्य सीमित संस्कृति और सांस्कृतिक जीवन तक ही सीमित रह गया। साहित्य पूरे समाज का चित्र नहीं बन सका था। संस्कृत के बाद प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं में भी लक्षण ग्रन्थ परम्परा दिखाई पड़ती है। हिंदी साहित्य की रीतिपरम्परा की प्रधान प्रेरणा, संस्कृत काव्यशास्त्र ही रहा है। निस्संदेह, लक्षण काव्य परम्परा के लिए हमें संस्कृत के साथ अपभ्रंश और प्राकृत की समद्ध परम्परा के अवदान को भी सहज रूप में स्वीकार करना चाहिये। यही परम्परा आगे चलकर रीतिकाव्य में प्रतिफलित हुई है। रीतिकालीन लक्षण परम्परा के असंख्य कवि हुए हैं। आचार्य केशवदास चिन्तामणि त्रिपाठी, तोष, मतिराम, भूषण, सुखदेव, रसलीन पद्माकर आदि जिन्होंने लक्षण ग्रन्थों की रचना की। रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थ काव्यशास्त्र के सर्वांगनिरूपक ग्रन्थ हैं।

रीतिकाल की एक प्रमुख विशेषता यह भी रही है कि इसमें अनेक लक्षण ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिनमें अलंकरण में प्रवत्ति प्रमुख है। अलंकार शास्त्र में उत्तम कविता के उदाहरणों में सैंकड़ों सरस श्लोक उद्धत किए गये हैं। इस शास्त्र की आरम्भ में दो स्पष्ट धाराएँ विद्यमान थीं। एक नाट्यशास्त्र में प्रकट हुई थी जिसका प्रधान प्रतिपाद्य 'रस' था दूसरी, चिंता अलंकार शास्त्र के रूप में प्रकट हुई जिसका पद्य विवेच्य विषय अलंकार थे। इन दो सम्प्रदायों को एकत्र करने का काम ध्वनि, सम्प्रदाय के पंडितों ने किया।

रीतिकालीन हिंदी कवियों तथा आचार्यों की मुख्य प्रवत्ति लक्षण ग्रन्थों को रचने अथवा संस्कृत के काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों को लंक्षण तथा उदाहरणों से स्पष्ट करने की रही। रीति निरूपण से अभिप्राय लक्षण ग्रन्थ लिखकर आचार्यत्व की पदवी प्राप्त करना ही समझना चाहिए। रीतिकालीन साहित्यकारों ने काव्य के क्षेत्र में अलंकारिकता, प्रदर्शन तथा चमत्कारपूर्ण उक्तियों को अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनाया। उन्होंने तो अलंकारों को कविता रूपी कामिनी के लिए अनिवार्य घोषित किया। इसीलिए केशव दास ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि–

"जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवत्त।
भूषन बिनू न बिराजई, कविता बनिता भित्त।"

अर्थात् कविता तथ बनिता चाहे कितनी ही उच्च्य जाति की क्यों न हो, अच्छे लक्षणों वाली सुवर्ण, रसीली तथा पुष्ट क्यों न हो ? परन्तु जब तक वे भूषण (अलंकार) धारण नहीं करती, तब तक शोभा नहीं पा सकती। इसी कारण रीतिकाल के अधिकांश साहित्यकारों ने अलंकारों के सहारे ही अपनी रचनाएँ रची। अलंकार शास्त्र ही उस समय का साहित्य शास्त्र माना जाता था। अतः काव्य में अलंकारण की प्रवत्ति भी खूब फली–फूली।

रीतिकालीन रचनाकारों ने प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य शैली को प्रमुखता प्रदान की। तत्कालीन आश्रयदाताओं को तुरंत प्रसन्न करने के लिए मुक्तक काव्य शैली का खूब प्रसार हुआ क्योंकि मुक्तक काव्य चुने हुए फूलों का गुलदस्ता है जिसमें सभा या दरबार को आसानी से मोहित किया जा सकता है।

इस काल के कवियों ने रीति या शास्त्र की भूमिका पर अपनी कविता की रचना की है। केशवदास ने सर्वप्रथम शास्त्रीय पद्धति पर रस और अलंकारों का निरूपण 'रसिक प्रिया' और 'कविप्रिया' में किया, किन्तु चिन्तामणि त्रिपाठी से लक्षण ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चलती रही। इन ग्रन्थों में रीतिबद्ध कवियों ने कोई मौलिक उद्भावना नहीं की है, वरन् संस्कृत के काव्यशास्त्र के विवेचन को भाषा में पद्यबद्ध कर दिया है, केवल लक्ष्य ग्रन्थ लिखने वाले कवियों ने रीति का कसाव कुछ ढीला कर दिया है। किन्तु फिर भी रीति की परिपाटी का ज्ञान हुए बिना इनकी कविता को अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता है।

रीतिकालीन काव्य और दरबारी संस्कृति

रीतिकालीन काव्य और दरबारी संस्कृति दोनों को एक–दूसरे का पूरक माना जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी। वास्तव में, दरबारी संस्कृति ही रीतिकालीन काव्य का आधार है। रीतिकालीन काव्य में चित्रित दरबारी संस्कृति का अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है।

1. **आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशस्ति** : रीतिकालीन दरबारी संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता राजप्रशस्ति रही थी। इस कालखण्ड में राजप्रशस्ति के तीन आयाम है–युद्धवीर, दानवीर और धर्मवीर। भूषण ने महाराज शिवाजी के माध्यम से युद्धवीरता का सर्वोच्च प्रतिमान प्रस्तुत किया है। यहाँ पर यह भी उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है कि मुस्लिम शासकों के विरोध में संघर्ष करने वाले शासकों का ही युद्ध कौशल रीतिकालीन कवियों द्वारा वर्णित हुआ है। वैसे जो छत्रपाल की वीरता के वर्णन के लिए भूषण विख्यात हैं, लेकिन मतिराम ने भी इस प्रसंग और पात्र को अपनी कविता का प्रतिपाद्य बनाया है। वतान्त है कि छत्रपाल औरंगजेब से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए थे। मतिराम इस दशा की व्यंजना इस प्रकार व्यक्त करते हैं :–

"औरंग-दारा जे जुरे दोऊ युद्ध, भर भर क्रुद्ध विनौद-विलासी,

भारू बजै, मतिराम, बखानै, भई अति अस्त्रनि की बरषा सी।

नाथ-तने तिहिठौर मर्‌यौ, तजय नाजिकै छत्रि को रन करसी।

सीस भयो हर-हार सुमेरू, छता भयो, आप सुमेरू को बासी।।"

रीतिकालीन रचनाकारों ने राजा के धर्मवीर रूप की चर्चा भी की है। भूषण ने शिवाजी के प्रशस्ति वर्णन के माध्यम से उनके धर्मवीर स्वरूप की विवेचना की है, यथा–

"वेद राखे विदिन पुरान परसिद्ध राखे,
राम-नाम राख्यो अति रसना सुधर मैं।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिम की,
काँचे में जनेऊ राख्यौ माला राखी गर मैं,
राजन ही हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यौ घर मैं।।"

2. **दिव्यता और अलौकिकतायुक्त आश्रयदाता** : रीतिकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को सामान्य नर के रूप में चित्रित न करके दिव्य और आलौकिक गुणों से सम्पन्न करके चित्रित किया है। कवियों ने उन्हें अवतारी पुरुष के रूप में भी महिमा–मंडित किया है। महाकवि भूषण ने अपने आश्रयदाता शिवाजी को कहीं विष्णु और कहीं राम का अवतार माना है। उन्होंने शिवाजी को राम का अवतार मानते हुए कहा है–

"दशरथ राजा राम भौ वसुदेव के गोपाल।
सोई प्रकट्यौ साहि के श्रीसिवराय भुआल।"

न केवल भूषण ने बल्कि अन्य रीतिकालीन कवियों ने भी अपने–अपने आश्रयदाताओं में दिव्यता की प्रवत्तियों को प्रमुखता से स्थान दिया है। कविवर पद्माकर को अपने आश्रयदाता जगतसिंह के रूप में राम और कृष्ण के अवतारों की प्रतीति होती है, यथा–

"प्रबल, प्रताप कुल दीपक छता के पुण्य
पातक पिता के राम राजा ज्यों भगतराज।
कान्ह अवतार बैरी-बारिधि-मथनकाज,
सील के जहाज बली विम तखत राज।।"

3. **राजरुचि का विवरण :** कवियों, कलाकारों, दस्तकारों आदि को आश्रय देना दरबारी संस्कृति की राजरूचि थी। यह उस समय की सामान्य राजरूचि रही थी। आजमशाह ने देव को आश्रय दिया, सुजानसिंह ने सूदन को पारछीत ने ठाकुर को राजभोगी लाल ने देव को दलेल सिंह ने थान कवि को तथा ललन ने बनी प्रवीन को आश्रय दिया था।

श्ंगार–निरूपण और शास्त्र–निरूपण उस युग की काव्य–प्रवत्ति थी। इस प्रवत्ति की पष्ठभूमि में राजाओं की श्ंगारिक रूचि विद्यमान थी और उनकी शास्त्रीयता के प्रति आग्रह थी। इस आग्रह के परिणामतः अनेक शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे गये। इन ग्रन्थों में कुछ सर्वांगनिरूपक ग्रन्थ थे और कुछ विशिष्टांग निरूपक। आलंकारिक ग्रंन्थों में भाषा भूषण (महाराज जसवन्त सिंह) नरेन्द्र भूषण, (भान कवि), ललित (मतिराम) आदि का विशेष उल्लेख मिलता है। दरबारी संस्कृति की राजरूचि का केन्द्र–श्ंगार और काव्यशास्त्र था। काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, नायिकाभेद आदि ही प्रधान प्रतिपाद्य विषय थे। श्ंगारिकता की रूचि ने कला के सभी रूपों को अपने कब्जे में कर रखा था।

4. **स्वामिभक्ति का प्रदर्शन** : स्वामिभक्ति का प्रदर्शन भी दरबारी संस्कृति का अंग रहा है। स्वामिभक्ति के लिए जयसिंह, रतनसिंह, छत्रपाल, भावसिंह आदि राजाओं का उल्लेख मिलता है। महाराज शाहजहाँ (भूषण के नायक छत्रपाल नहीं) दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ के अधीन थे। शाहजहाँ के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हुए उन्होंने औरंगजेब से युद्ध किया। भावसिंह ने शिवाजी से युद्ध किया, वह भी औरंगजेब से मैत्री निर्वाह करने के लिए। इस प्रशस्ति का प्रदर्शन मतिराम ने इस प्रकार किया है–

"सूबनि को मेटि उिल्ली देस दलिवे कौं चमू,
सुभट समूहिन सिवा की उमहति है।
कहैं मतिराम ताहि रोकिवे कौं संगर में
काहू केन हिम्मति हिये में उलहति है।
सत्रुसाल नंद के प्रताप की लपट सब
गरवी गनीम वरगीन कौं दहति है।
पति पातसाह की इजति उमराव की।
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है।"

5. **सामंती समाज का चित्रण** : सामंती समाज का चित्रण भी रीतिकालीन दरबारी संस्कृति की एक प्रवत्ति थी। रीतिकालीन सामंती समाज वैभव और ऐश्वर्य की पराकाष्ठा का समाज था। रीतिकालीन अनेक कवियों ने इस वैभव का बड़ा ही चमत्कारी और अलंकारी वर्णन किया है। इस दष्टि से कवि मतिराम, गजन, भिखारीदास आदि अनेक कवियों का काव्य दर्शनीय है। गंजन की कुछ प्रमुख पंक्तियों का अवलोकन–

"मीना के महल जखाफ दर परदा है,
हलवी फनूसन में रोशन चिराग की।
गुलगुली गिलम गरक आब पग होत,

जहाँ बिछी मनसद लालन के दाम की।।
केती महताबमुखी खचित जवाहिरन,
गंजन सुकवि कहैं बौरी अनुराग की।
एतमादुदौला कमरूद्दीपन खाँ की मजलिस,
सिसिर में ग्रीष्म बनाई बड़ भाग की।।"

दरबारी संस्कृति में सामंती समाज का विशेष महत्त्व होता है। इस समाज में सरदार, मनसबदार, अमीर–उमराव के साथ शासन, न्याय और सुरक्षा से सम्बद्ध कर्मचारी आते थे। दरबारों से कुछ जातियाँ भी अनायास सम्बद्ध थीं। इसमें चारण, भाट, मागद, सूत, बंदीजन आदि प्रमुख हैं। सामंती समाज में सामान्या (गणिका) का विशेष आदर था। वह सौन्दर्य और आकर्षण का केन्द्र हुआ करती थी।

कवि चन्द्रशेखर ने इन वेश्याओं–गणिकाओं का चित्रण इस प्रकार किया है–

"बसन विभूषन बिराजत बिमल वर
मदन मरोरनि तरकि तन तोरतीं।।
प्यारे पातसाह के परम अनुराग रंगी,
चाप भरी चापल चपल दग जोरतीं।
काम अबला सी, कलाधर की कला सी,
चारू चंपक लता सी चपला सी चित चोरतीं।।"

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उत्तर मध्यकाल में आकर प्रेम की उदान्त भावनाएँ लौकिक वासनाओं के रूप में परिवतर्तित हो गयीं। पूरा सामाजिक परिवेश और साहित्य श्ंगार के सागर में डूबने लगा था। अलौकिक शास्त्रीय ज्ञान इस युग का शास्त्रीय ज्ञान बन गया। ऐसी स्थिति में, साहित्य सीमित संस्कृति और सांस्कृतिक जीवन तक ही सीमित रह गया था। साहित्य समाज का दर्पण होता है, लेकिन ऐसी स्थिति में वह पूरे समाज का चित्र नहीं खींच सका और यहीं सब रीतिकालीन दरबारों की संस्कृति रही है।

23. रीति काल के प्रवर्तक आचार्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास के मध्य काल का उत्तर भाग रीतिकाल के नाम से जाना जाता है। इस काल का प्रारम्भ अधिकांश विद्वानों द्वारा सं. 1706 माना गया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि रीतिग्रन्थों के निर्माण का श्रीगणेश आचार्य चिंतामणि ने किया है। इस प्रकार इन्हें ही इस परंपरा का प्रवर्तक मानना चाहिए। विद्वानो का एक वर्ग रीतिकाल को संवत 1650 से प्रांरभ मानता है। ऐसे विद्वानो की मान्यता है कि रीति ग्रन्थों का निर्माण विशेष पद्धति से होता है। इससे पूर्व लिखे गए ग्रन्थो में ये लक्षण नहीं मिलते हैं। इस वर्ग के विद्वानों का कहना है कि शास्त्रीय ढंग से लिखे गए ग्रंथो में कविप्रिया और रति का प्रिया का विशेष स्थान है। ये ग्रंथ शास्त्रीय आधार पर निर्मित है। इस प्रकार आचार्य केशव को ही रीति काल का प्रर्वतक मानना चाहिए। जिस प्रकार प्रत्येक धारा की रचनाओं के विषय में कुछ न अनुकूल और प्रतिकूल चर्चाएँ होती रहती हैं। इसी प्रकार रीतिकाल के रीति–ग्रन्थो और कर्मकाल पर चर्चा चलती रहती है।

रीतिकालीन कवियों और उनकी रचनाओं पर विचार करने की आवश्यकता है।

हिन्दी के रीति ग्रन्थ की प्रारंम्भिक रचना कृपाराम कृत "हित तरंगिणी" को मान सकते है। उनकी कृति में पूर्व के कुछ रीति–ग्रन्थकारों की ओर भी संकेत किया गया है। इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि इन रीतिग्रन्थकारों की कोई भी कृति उपलब्ध नहीं है। जब तक किसी साहित्यकार की ऐसी कृति मिल नहीं जाती तब तक उस पर विचार कर पाना असम्भव है।

कृपाराम की "हित तरंगिणी" पर भरतमुनि के नाट्य शास्त्र का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसमें दिया गया नायिका भेद बहुत कुछ नाट्यशास्त्र से मेल खाता है। यह प्रथम और प्रारंभिक रचना है, किन्तु सिद्धांत की दष्टि से इस रचना में न कोई मौलिकता है न ही विशेष महत्व है।

कृपाराम के पश्चात रीति के शास्त्रीय ग्रंथ रचना में गौण कवि का नाम लिखा जा सकता है। 'अलंकार चन्द्रिका' इनका ग्रन्थ है। इसमें अंलकार का विवेचन है। यह ग्रन्थ भी माम चर्चा में है, किन्तु कृति उपलब्ध नहीं है। मोहन लाल मिश्र ने भी 'श्रंगार सागर' की रचना की है। इस विषय में अधिकांश विद्वानो का मत है कि यह कृति भक्ति काल के रीति ग्रंथो में से एक है। इसे रीति काल के ग्रंथो में रखना उचित नहीं होगा। शास्त्रीय विवेचन में यह ग्रंथ विशेष महत्व का है। इसमें रस और नायिका भेद का सविस्तार निरूपण किया गया है। अष्टछाप के कवियों में से एक कवि नन्ददास ने 'रसमंजरी' की रचना की है जिसमें नायिका भेद का शास्त्रीय संदर्भ दिखाई देता है। अकबर के शासन के अनेक कवियों ने भी रीति ग्रंथो की रचना परम्परा में अपना योगदान दिया है। इनमें रहीम, बलभद्र और कवि गंग का नाम विशेष उल्लेखनीय है। केशव से पूर्व रचे गए रीति ग्रंथो में करने से कवि के तीन ग्रंथो की विशेष चर्चा आती है। ये ग्रंथ हैं – 'करुणा–मरण', 'श्रुतिभूषण और 'भूपभूषण'। इन ग्रथों का अपना महत्व है। ये तीनों ही ग्रंथ अलंकार चर्चा पर आधारित हैं। इतना होने पर रीति शैली की किसी विशेष बात दिखाई नहीं होती है।

इस प्रकार के विस्तत विवेंचन में केशव के पूर्व कई कवियों की कृतियाँ सामने आती हैं, किन्तु शास्त्रीय दष्टि से रीति तत्वों का आभाव ही दिखाई देता है। इन ग्रंथों में रीति तत्वों की महत्ता न होने से इस समय के किसी कवि को रीति ग्रंथ रचना का प्रर्वत्तक नहीं मान सकते हैं।

रीति कालीन आचार्य केशव के ग्रथों में प्रतिपादित रीति तत्त्वों को देखते हुए इनको रीति–चिंतन पद्धति पर विचार करना चाहिए। इनके पूर्व कृपाराम कृति 'हित तरंगिणी' एक मात्र ऐसा ग्रंथ है जिसमें रीति तत्त्वों का समावेश मिलता है, किन्तु अनुकूल शास्त्रीय व्यवस्था का अभाव है। किसी सीमा तक इसका नायिका भेद उपयोगी मान सकते हैं।

आचार्य केशव संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। उन्होंने संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया और अपनी रचनाओं में रीति पंरपरा का गुरुतर संवहन किया है। उनकी कृतियों में रस, अलंकार, काव्य–दोष, कवि क्रम, काव्य–स्वरुप और काव्य–वत्तियों आदि का सविस्तार विवेचन किया गया है। केशव को अलंकार प्रतिपादन और सैद्धान्तिक विवेचन में अग्रणी कवि माना गया है। केशव अलंकारवादी कवि थे। इसी प्रवति के कारण केशव को भामह और दण्डी के साथ रखा जाता है। इस प्रकार केशव के काव्य में रीति के तत्त्वों का गंभीरता से प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य चिंतामणि रीति काल के अन्य प्रमुख कवि है जिनकी लेखनी चार महत्वपूर्ण ग्रंथों का सजन हुआ है। इनके ग्रंथ हैं– 'काव्य–विवेक', 'कविकुल कल्पतरु', 'काव्य–प्रकाश' और 'रसमंजरी'। इन ग्रंथों में काव्य की विविध धाराओं का उत्तम विवेचन किया गया है। इनके द्वारा छंद शास्त्र पर 'पिंगल' नामक कृति का भी सजन किया गया है। इस प्रकार रीति ग्रंथ निर्माण की बलवती परंपरा का स्वरूप सामने आता है। इस काल के अधिकांश कवियों ने संस्कृत के कवियों से मिली है। इन ग्रंथों के रचना की प्रेरणा संस्कृत के कवियों से मिली है। इन ग्रंथों के आधार संस्कृत ग्रंथ है। सर्वप्रथम आधार कवियों और उनके ग्रंथो की चर्चा आवश्यक है।

आचार्य भरतमुनि के 'नाट्य शास्त्र' में रस के विशद विवेचन के साथ छंद अलंकार, काव्य–गुण, काव्य–दोष और नाटय स्वरुप का विवेचन किया गया है। नाट्य शास्त्र के विभिन्न अध्यायों में काव्यशास्त्र के विभिन्न संदर्भो का विवेचन है। इसकी छाप रीतिकालीन कवियों पर यत्र–तत्र दिखाई देती है। आचार्य भामह के 'काव्यालकांर' में अलंकार सिद्धांत की बहु विधि विवेचना की गई है। भारतीय आचार्यो द्वारा स्थापित छः सिद्धांतो की चर्चा संस्कत की ही देन है। जहाँ से रीतिकाल के कवियों को प्रेरणा मिली है।

रीति ग्रंथों की रचना परंपरा में संस्कृत के पश्चात प्राकृत और अप्रभंश की कृतियाँ भी उल्लेखनीय हैं–

(1) प्राकृत के रीति ग्रंथ एवं अन्य ग्रंथ

1. भविसयत्तमहा (10वीं शती)
2. णायकुमारचरिउ पुष्पदैतचरिउ (10वीं शती)
3. महापुराणम–महाकविपुष्पदैतविरचित (972 वि.स.)
4. चनुप्पन महापुरिस चरियं (11वीं शती)
5. प्राकृत कथा संग्रह (11वीं शती)
6. आख्यामानक मणिकोश–नेमचन्द्र सूरि (12वीं शती)
7. जिनदत्ताख्यानद्वय (12वीं शती)
8. अपभ्रंश काव्यमयी (13वीं शती)
9. प्रबंध चिंतामणि (14वीं शती)

(2) अपभ्रंश के रीति ग्रंथ एवं अन्य ग्रंथ

1. माइल्लधवल (दोहा ग्रंथ) श्री देव सेन मुनि
2. मुंज के दोहे
3. ब्रह्म कवि के दोहे
4. भोज के दोहे एवं समस्यापूर्ति
5. हेमचन्द का व्याकरण
6. कुमारपाल प्रतिबोध
7. रासो
8. प्रबन्ध चिन्तामणि
9. ढोला–मारु दोहा
10. पुरानी हिन्दी के दोहे

इस प्रकार रीति ग्रंथों के साथ अन्य ग्रन्थो के रचना की गंभीर परंपरा दिखाई देती है। इसके आधार पर रीतिकालीन ग्रंथ सामने आए है।

रीतिकालीन लक्षण ग्रंथ

रीतिकाल के रीति–ग्रंथों की रचना के आधार रूप में संस्कृत ग्रंथ है और उनमें तीन प्रकार की मुख्य प्रवतियां सामने आती हैं।

1. **अलंकारवादी आचार्य-** जिसने अलंकार विवेचना को अपना लक्ष्य बनाया है, यथा–केशव, जसंवत सिंह, भूषण, ग्वाल आदि।
2. **रस और नायिका चिंतन वादि आचार्य-** चिन्तामणि, मतिराम भिखारी आदि।
3. **रसवादी आचार्य-** कुलपति भिखारी सोमनाथ आदि।

रीति काल के आचार्य की चर्चा के पूर्व इस काल के विभिन्न रीति कवियों की चर्चा भी अपेक्षित है। इनमें कुछ इस प्रकार है–

1. **केशव-** रीतिकाल के कवियों में रीति के तत्त्वों को सर्वाधिक रूप में अपनाने वाले कवि केशव है। इनके दो लक्षण ग्रंथ रीति ग्रंथ को अनुपम धरोहर है। वे ग्रंथ हैं 'रसिक प्रिया' और 'कविप्रिया'। केशव ने रसिक में रसराज श्ंगार को गंभीरता से अपनाया है।

नवहू रस के भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।

सबको केशवराम हुरि नायक है श्रंगार।।

'कविप्रिया' अन्य प्रवत्तियों का प्रस्तुत करने वाली रचना है। इस कृति में विविधा का भी आभास होता है–

समझै बाला बालकवि वनतं पंथ अगााध।

कवि प्रिया केशव करी, छमिहै बुध अपराध।।

कविप्रिया में अलंकार और काव्य दोषों को विस्तार से अपनाकर काव्यसम्मत प्रस्तुति की गई है।

2. **चिन्तामणि-** रीतिकाल के प्रमुख रीति कवि है। इनकी लेखनी से 'काव्य–विवेक', 'कविकुल कल्पतरु', 'काव्य–प्रकाश', रसमंजरी और पिंगल रचनाओं का सजन हुआ है। इनमें सभी उपलब्ध नहीं है। सर्वाधिक चर्चित और महत्वपूर्ण ग्रंथ है– 'कविकुलकल्पतरु'। इसमें काव्य–गुण, काव्यदोष, अंलकार आदि को अपनाया गया है।

3. **जसवंत सिहं-** इन्होंने 'भाषाभूषण' नाम रीति ग्रंथ की रचना की है। इस ग्रंथ पर संस्कृत के ग्रंथ चन्द्रालोक और कुवलयानन्द का प्रभाव दिखाई देता है। इसमें अलंकार रस और नायिका भेदों को अपनाया गया है।

4. **मतिराम-** रीतिकालीन रीति कवियों में मतिराम का नाम गौरव से लिया जाता है। इन्होंने कई ग्रंथों का प्रणयन किया है। इनके प्रमुख ग्रंथों में 'रसराज' काव्यशास्त्र के रस की चर्चा के लिए प्रसिद्ध है, तो 'ललित ललाम' मे अंलकार की विवेचना है। इनके ग्रंथ हैं–
   1. रसराज
   2. ललित ललाम
   3. साहित्यसार
   4. लक्षण श्रंगार

5. **भूषण-** भूषण ओज के कवि है साथ ही इनके काव्य में अंलकारो की अनूठी विवेचना की गई है। शिवराज भूषण इनके द्वारा रचित श्रेष्ठ शास्त्रीय ग्रंथ है।

6, **कुलपति मिश्र-** संस्कृत के विद्वान होने के कारण इनके काव्य पर संस्कृत आचार्यों का प्रभाव होना स्वाभाविक है। कृत काव्य प्रकाश और विश्वास कृत साहित्य दर्पण का स्पष्ट प्रभाव देख सकते हैं। इनकी दो कृतियाँ–इस रहस्य और गुण इस रहस्य सामने आती है।

7, **सुखदेव मिश्र-** इनके छः ग्रंथ– कृतविचार, रसाणवि, छंदविचार, श्रंगार लता, पिंगल, फाजिल अलि प्रकाश आदि है।

8. **देव-** इन्होंने कई रीति ग्रंथों की रचना की है। जिनमें प्रमुख हैं– भावविलास, रसविलास, कुशल विलास, भवानी विलास, काव्य–रसायन आदि। इनमें रस, अंलकार और नायिका–भेद आदि पर गंभीर विवेचना है।

9. **श्रीपति-** रीतिग्रंय लिखने वालों में चर्चित कवि हैं। इन्होंने अनेक रीति ग्रंथों की रचना की है। जिनमें प्रमुख हैं– कविकुल कल्प द्रुम, रससागर, विक्रम विलास, अलंकार गंगा, अनुप्रास विनोद, सरोजकलिका, काव्य–सरोज आदि।

10. रसलीन- इनका पूरा नाम "सैयदगुलाबनबी रसलीन" है। इन्होंने अंग–दर्पण और रसप्रबोध की रचना की हैं। अंग दर्पण के एक सौ अस्सी दोहों में नखशिख वर्णन है। 'रस–प्रबोध में सभी नौ रसों की विशद चर्चा है।

11. भिखारी दास- इनकी लेखनी से 'शंगार निर्णय' और काव्य–निर्णय लक्षण ग्रंथों की रचना हुई है। इनमे रस और नायक–नायिका भेदों को अपनाया गया है।

इस प्रकार रीति काल में संस्कृत ग्रंथों को अपना कर रीति ग्रंथों के रचना की अनूठी परंपरा रही है। इस विस्तत परंपरा को देख कर मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या रीति ग्रंथों के प्रवर्तक कवि केशव है या अन्य कोई कवि।

हिन्दी साहित्य के रीतिग्रंथो के प्रवर्तक आचार्य के विषय में विद्वानो में पर्याप्त मतभेद है। डा. श्यामसुदंर दास जैसे विद्वान केशव को रीतिकाव्य का प्रवर्तक मानते है। उन्होने अपने हिन्दी साहित्य में केशव को रीतिकाल के प्रारम्भ में स्थान देते हुए लिखा है– "यद्यपि समय विभाग के अनुसार केशव भक्तिकाल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन होने तथा 'राम चन्द्रिका' आदि ग्रंथ लिखने के कारण रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परन्तु उन पर पिछले काल के संस्कत साह्वित्य का इतना अधिक प्रभाव होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए और हिन्दी में रीति–ग्रंथों की परम्परा के आदि आचार्य कहलाए।"

डा दास के विपरीत आचार्य ृशुक्ल के केशव को रीतिग्रंथ के प्रथम आचार्य मानते हुए भी उनहे रीतिग्रंथो की परम्परा का वास्तविक प्रर्वतक स्वीकार किया है।ृशुक्ल जी के मन में रीतिग्रंथो की परम्परा का वास्तविक प्रर्वतक स्वीकार किया है।ृशुक्ल जी के मन में रीतिग्रंथों की अखंड परम्परा केशव के समय से नहीं चिंतामणि से है। केशव के पश्चात लगभग पचास वर्षों तक हिन्दी साहित्य में रीतिग्रंथों की रचना नहीं हुई। यदि केशव से आगे भी हिन्दी साहित्य में रीतिग्रंथो की रचना माना जा सकता था।ृशुक्ल जी के अनुंसार केशव को रीति–ग्रंथकार कवियों ने केशव को आदर्श न मानकर उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से निम्न मार्ग को अपनाया गया है।

केशवदास सर्वप्रथम रीतिकाव्य के सर्वांनिरूपक प्रौढ़ कवि के रूप में हमारे सामने आते है।ृशुक्ल जी के अनुसार उन्हें रीतिकाव्य का प्रवर्तक न मानने में भी आपत्ति है। केशव के बाद लगभग पचास वर्ष तक रीतिग्रंथो की रचना न होने के कारण भी केशव को रीतिग्रंथ–प्रवर्तक के स्थान से च्युत करना उचित नहीं है। जब कभी कोई प्रभावशाली लेखक किसी नवीन प्रवति का प्रवर्तन करता है। तब यह आवश्यक नहीं होता कि उसके बाद एक साथ ही उस प्रकति की परंपरा प्रतिष्ठित हो जाए। कभी–कभी लोगों को उस प्रवति को समझने या अपनाने में पर्याप्त समय लग जाता है। ऐसी दशा में केशव के पश्चात पचास वर्षों तक रीतिग्रंथ कवियों ने केशव के दिखाये हुए मार्ग का अनुसरण नहीं किया। यह भी ऐसी तर्कपूर्ण और सबल युक्त नहीं जो कि केशव को रीतिकाव्य के प्रर्वतको को रूप उनका नाम गिना जा सके। केशव ने काव्य के विविधांगो के निरूपण का मार्ग दिखाया था और इस रूप में आकर्षक मार्ग का अनुसरण किया है। यह बात दूसरी है कि परवर्ती कवियों ने संस्कत के उन आचार्यों को आदर्श नहीं माना जिनको केशव ने माना था। इसके अतिरिक्त केशव के आचार्यत्व का जितना प्रभाव परवर्ती रीतिग्रंथकार कवियों पर पड़ा है, उतना चिंतामणि त्रिपाठी पर नहीं। चिंतामणि का उनके परवर्ती आचार्य कवियों ने रीतिकाल के प्रवर्तक के रूप में उल्लेख नहीं किया जबकि केशव को देव और दास जैसे प्रतिभाशाली आचार्यों ने भी अपनी श्रद्धांजलि भेट की है। इसमें कोई संदेह नहीं कि केशव ने 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' में संस्कत के लक्षण–ग्रंथो के आधार पर काव्यशास्त्र कि विविधांगों का जो निरूपण किया है, उसमें मौलिकता का आभाव है। काव्य–शास्त्र विषयक मौलिक सिद्धान्तो के प्रतिपादन की क्षमता केशव में नहीं थी। परम्परागत सिद्धान्तों की व्याख्या में भी उनको सफलता नहीं मिली। इतना होते हुए भी केशव का महत्व इस बात में है कि उन्होने संस्कत के लक्षण

ग्रन्थों को आधार पर काव्यशास्त्र के विविध विषयों पर लक्षण ग्रन्थों के आधार पर काव्यशास्त्र के विविध विषयों पर लक्षण उदाहरण पूर्ण ग्रंथ लिखने की परंपरा स्थापित की। काव्य–रसिकों, अध्येताओं, प्रणेताओं (रचना करने वाले) के लिए काव्य–शिक्षा संबधी विपुल सामग्री केशव के लक्षण ग्रंथों में वर्तमान है। संस्कत की रीति काव्य परम्परा को हिन्दी में अवतरित करने का गौरव केशव को ही प्राप्त है। केशव की 'कवि–प्रिया' और 'रसिक प्रिया' ने परवर्ती अनेक आचार्य कवियों को प्रभावित किया। परवर्ती अनेक आचार्य ने उन्हे पढ़कर रीतिग्रंथ लिखने की प्रेरणा प्राप्त की है। चिंतामणि त्रिपाठी ने अपनी 'श्ंगार मंजरी' में अनेक संस्कत ग्रंथो के साथ केशव की 'रसिक प्रिया' को भी अपनी स्थान का आधार स्वीकार किया है। परवर्ती आचार्य कवियों की परम्परा में केशव की 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' का पठन–पाठन आचार्यत्व का एक अंग समझा जाता है।

रीतिकाव्य परम्परा में केशव का महत्वपूर्ण स्थान होने पर भी हम उन्हे रीतिकाल का प्रवर्तक आचार्य स्वीकार करना उचित नहीं समझते। केशव को रीतिकाव्य का प्रवर्तक न मानने में निम्नलिखित मुख्य कारण हैं–

1. केशव के पश्चात रीतिग्रन्थों की परम्परा अखण्ड रूप से प्रचलित नहीं हो सकी। हिन्दी में रीतिकाव्य की अविरल परम्परा केशव के लगभग पचास वर्ष बाद प्रचलित हुई।

2. केशव विशुद्ध रीतिग्रंथकारी कवि नहीं थे। उन्होंनें 'राम–चंद्रिका' और 'विज्ञान–गीता' जैसी रचनाओं में अपने समय अर्थात भक्तिकाल परम्परा का अनुसरण किया। केशव ने रीतिग्रंथों प्रणयन के नवीन मार्ग को खोलते हुए भी अपने समय की तथा उससे पूर्ववर्ती परम्परा का त्याग नहीं किया। उनकी रचनाओं में भक्तिकाल की भक्ति–भावना और परवर्ती रीतिकाल की श्ंगारी मनोवति का सामंजस्य दष्टिगत होता है।

3. केशव के समय में रीतिकाव्य का स्वयं सर्वप्रधान नहीं था। केशव का युग तुलसी और सूर के प्रभाव, जोकि सर्वव्यापी था, से आक्रान्त था। उस काल के प्रमुख प्रवति भक्ति हो रही और उस पर रीति काव्य का कोई उल्लेख प्रभाव नहीं पड़ा। इस काल का रीतिकाव्य गुण और परिमाण में भक्ति का विषय श्रेष्ठतर और प्रचुरतर नहीं है।

4. केशव की रीतिग्रंथ लिखने की प्रवति को जनरुचि का बल प्राप्त नहीं हो सका। उन्होंने रीतिकाव्य की जो परम्परा चलाई थी, उसे तत्कालीन अन्य कवियों का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ।

5. केशव अंलकारवादी कवि थे। उनके अलंकार सिद्धान्तों को परवर्ती रीतिग्रंथकारों–कवियों ने स्वीकार नहीं किया। जिस प्रकार संस्कृत के परवर्ती आचार्यों ने अलंकार–सिद्धान्त को अस्वीकार करके रस या ध्वनि को काव्य में प्रधानता दी है, उसी प्रकार परवर्ती रीतिग्रंथकारों ने केशव द्वारा स्वीकृत अलंकार–सिद्धान्त को छोड़कर रस–सिद्धान्त को अपने लक्षण ग्रंथों में प्रमुख स्थान दिया है।

इस प्रकार हम केशव को हिन्दी में रीतिग्रंथकार आचार्य ही स्वीकार करते है, रीतिग्रंथो तथा रीतिकाव्य का प्रवर्तक नहीं। रीतिकाल का प्रवर्तक तो चिंतामणि को मानना उचित है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चिन्तामणि में केशव सा प्रभावशली पाण्डित्य एवं अचार्यत्व का आभाव है। पर चिंतामणि त्रिपाठी के बाद रीतिग्रंथों की अविच्छन्न परंपरा के प्रचलित हो जाने से रीतिकाव्य के प्रवर्तक हाने का श्रेय उन्हीं को मिलना चाहिए। चिंतामणि को रीतिकाव्य का प्रवर्तक होना संयोगजन्य है। उनके समय से रीतिग्रथों की धारा अखण्ड रूप से लगभग दो सौ वर्षो तक बहती रही। चिंतामणि तक भक्ति काव्य का स्वर मंद पड़ चुका था और रीतिकाव्य को प्रमुख रूप से अपनाने की प्रवति बलवती हो चुकी थी। चिन्तामणि को जनरुचि का समर्थन भी प्राप्त हो चुका था। वे एक विशुद्ध रीतिकाव्य–प्रणेता, कवि और

आचार्य के रूप हमारे सामने आते हैं। उन्होनें काव्य–शास्त्र के प्रायः सर्वांगों का निरूपण किया है। चिंतामणि के परवर्ती कवियों ने उन्हीं की पद्धती और प्रणाली का अनुसरण किया है। इसलिए चिंतामणि को ही हिन्दी में रीति परम्परा का प्रवर्तक आचार्य मानना युक्ति संगत प्रतीत होता है। और रीतिकाल का प्रारंभ भी उन्हीं के समय से अर्थात सम्वत 1700 से मानना समीचीन है। इस प्रकार आचार्य चिंतामणि से रीति ग्रंथ के निर्माण की आर्कषक पंरपरा का श्रीगणेश हुआ है।

24. रीतिकालीन काव्य धाराएँ (रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त)

रीतिबद्ध :

'रीतिबद्ध' काव्य धारा वह काव्य है जिसमें रीति अर्थात् परम्परागत काव्यशास्त्र को हिंदी में प्रत्यक्षतः रूपांतरित न करके रीति अथवा परम्परागत काव्यशास्त्र का पूर्ण अनुसरण व निर्वाह किया गया है। रीतिबद्ध काव्य लक्षणों और उदाहरणों से युक्त होता है।

रीतिबद्ध उन कवियों तथा आचार्यों को माना गया है जिन्होंने संस्कृत–काव्यशास्त्र में प्रतिपादित काव्यांगों के आधार पर हिंदी भाषा (लोकभाषा अयोध्या ब्रजं) में लक्षण ग्रन्थों की रचना की है। ऐसे कवि आचार्यों ने काव्यांगों के लक्षण भी प्रस्तुत किए हैं तथा उनके सुन्दर उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। ऐसे रीतिबद्ध काव्य की रचना करने वाले कवियों ने अपने आपको कवि तथा शिक्षक माना है। इन्हें शास्त्र कवि अथवा आचार्य कहना अधिक उपयुक्त है। ऐसे रीतिबद्ध आचार्यों ने संस्कृत के अलंकार सम्प्रदाय को विशेष रूप से तथा रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति का गौण रूप में आधार बनाया है। ऐसे आचार्य–कवियों ने उस समय के सामन्तों, राजाओं, नवाबों, अमीरों, रईसों, कवियों तथा रसिक सामाजिकों के लिए संस्कृत भाषा में पूर्व रचित काव्यांगों को लोकभाषा में प्रयुक्त करने का प्रयास ही किया था परन्तु ऐसे आचार्यों का मुख्य उद्देश्य तो अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना ही था परन्तु ऐसे आचार्यों का साहित्यिक उद्देश्य तो, संस्कृत भाषा में रचित साहित्यशास्त्र का हिंदी लोकभाषा में अनुवाद करना था। इसलिए ऐसे रीतिबद्ध आचार्य कवियों ने किसी नए काव्य सिद्धान्त की स्थापना नहीं की। इसी कारण इन रीतिबद्ध आचार्यों के लक्षण ग्रन्थों में मौलिकता अथवा गंहनता नहीं आ पाई। वे तो एक पूर्व प्रतिष्ठापित बंधी–बँधाई परिवाटी का अनुसरण करते रहे। इन्हें संस्कृत साहित्यशास्त्र से तत्कालीन युग की प्रवत्ति के अनुसार सरल, रोचक तथा श्ंगारपरक साामग्री को ही ग्रहण किया। ऐसे रीतिबद्ध आचार्य अलंकारों तथा नायक–नायिका भेद आदि के निरूपण में ही उलझे रहे, उन्होंने भारतीय शास्त्र के गंभीर प्रश्नों को नहीं पूछा। रीतिबद्ध आचार्य–कवियों ने दोहरी भूमिका निभाई। वे लक्षण ग्रन्थ भी रचते रहे तथा अलंकार प्रधान कविता भी करते रहे। इन्होंने अधिकांश साहित्य पद्य में ही रचा। इस वर्ग में भी दो प्रकार के साहित्यकार सामने आते हैं। एक तो ऐसे आचार्य कवि हैं जिन्होंने लक्षण ग्रन्थ भी लिखे और साथ–साथ लक्ष्य ग्रन्थ भी रचे। इस कोटि में केशवदास, चिन्तामणि, मतिराम, देव तथा पद्माकर आदि नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दूसरे वर्ग रीतिबद्ध आचार्यों में उन काव्यशास्त्रियों का है जिन्होंने केवल लक्षण ग्रन्थ ही लिखे परन्तु कवितामय लक्ष्य ग्रंथ नहीं लिखे। ऐसे आचार्यों में श्रीपति का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि रीतिबद्ध काव्य वह है जिसमें रीति का साक्षात् निरूपण न होकर उसका निर्वाह व अनुसरण मात्र होता है। सही अर्थ में रीतिबद्ध काव्य के सर्जक कवि होते हैं, आचार्य नहीं।

रीतिसिद्ध

रीतिसिद्ध काव्य से अभिप्राय उस दरबारी काव्य से है जिसके अन्तर्गत कवियों ने परम्परागत काव्यशास्त्र का निर्वाह करने के साथ ही उसमें सिद्धता भी प्राप्त की थी। अवलोकनीय बात यह रही

कि इन कवियों का आचार्यत्व इनके कवि–कर्म में बाधक नहीं बना। यही कारण है कि अधिकतर कवियों में रीतिग्रंथ रचने की प्रवत्ति विद्यमान रही थी। भूषण जैसे वीर कवि की रीति का मोह नहीं त्याग सके और शिवराज भूषण नामक ग्रन्थ रच डाला। ऐसी स्थिति में संस्कृत काव्यशास्त्र को हिंदी में प्रस्तुत करके नये कवियों का मार्गदर्शन करने की बात विद्वान कवियों के समक्ष आयी–

"सुरबानी यातैं करी, नर बानी में ल्याय।
जाते मगु रसरीति को, सबतै समुझौ जाय।।"

हिंदी में काव्यशास्त्र लिखकर दरबारी सम्मान प्राप्त करने की आकांक्षा तीव्र हो गयी, अतः प्रत्येक विद्वान् चाहे उसके पास कवि–हृदय था या नहीं, पद्यमय काव्य–लक्षण–ग्रंथ की रचना में जुट गया। इस प्रकार का संकेत भिखारी दास की पंक्तियों में मिलता है–

"आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई, न तो
राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानौं है।"

रीतिबद्ध कवियों को काव्य कवि की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसे साहित्यकारों अथवा कवियों ने अलंकारों थिा नायक–नायिका भेद आदि के लक्षण प्रस्तुत नहीं किये, पर अपने सरस एवं श्रंगारपरक मुक्तक काव्य में ऐसे उदाहरणों की रचना की जिनसे एक ओर तो उनके चमत्कार की धाक जमे तथा दूसरे उनकी कविता को श्रंगार रस की निष्पत्ति के लिए पोषण भी मिले। ऐसे कवियों में आचार्यत्व की पदवी प्राप्त करने की लालसा चाहे रही हो, पर वे लक्षण ग्रंथ नहीं लिख पाये। अतः ऐसे कवियों को केवल काव्य–कवि या रस–सिद्ध कवि कहा जा सकता है। ऐसे रससिद्ध कवियों में 'बिहारी' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि बिहारी ने अपने दोहों के माध्यम से श्रंगार रस का ऐसा सुन्दर प्रतिपादन किया है कि नायक–नायिकाओं के लक्षण प्रस्तुत न करके भी दोहे के माध्यम से स्पष्ट संकेत मिल जाते हैं कि अमुक दोहे में वर्णित य चित्रित कौन–सी नायिका है।

रीतिसिद्ध कवियों ने काव्य के दोनों पक्षों अर्थात् कला पक्ष एवं भाव पक्ष पर एक समान बल दिया। भावाभिव्यक्ति हेतु इन्होंने आलंकारिक शैली को अपनाया, पर इनका मुख्य लक्ष्य तो रसानुभूति कराना था। रीतिसिद्ध कवियों को संस्कृत साहित्य का तथा संस्कृत साहित्यशास्त्र का सम्यक् ज्ञान था परन्तु उन्होंने संस्कृत जैसे लक्षण ग्रन्थ रचने का मोह नहीं रखा। उन्होंने अलंकारादि काव्यांगों के लक्षण देकर उदाहरण नहीं लिखे। उन्होंने तो उस प्रकार के साहित्य की रचना की जिसके द्वारा प्रकारान्तर से तो कोई काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त पुष्ट होता हो पर उसमें किसी सिद्धान्त विशेष का आग्रह नहीं हो। यद्यपि डा० नगेन्द्र आदि की कोटि में रखा गया है, परन्तु बिहारी आचार्य कवि नहीं हैं।

इस प्रकार सारांश में कहा जा सकता है कि रीतिकाल में उस काव्यधारा को रीतिसिद्ध काव्यधारा का नाम दिया गया है जिसमें रीतिकाव्य की बँधी–बँधाई परिपाटी में विश्वास रखते हुए भी उन कवियों ने लक्षण ग्रंथ नहीं लिखे, बल्कि कविता का मुख्य उद्देश्य रस–प्राप्ति समझते हुए केवल ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जिनसे काव्यांगों को समझा जा सकता है। 'रीतिसिद्ध' काव्य से अभिप्राय उस दरबारी काव्य से है जिसके अन्तर्गत कवियों ने परम्परागत काव्य शास्त्र का निर्वाह करने के साथ ही उसमें सिद्धता भी प्राप्त की थी।

रीतिमुक्त

रीतिकाल में जो तीसरी काव्यधारा बही उस पर विद्वानों का मतभेद नहीं है। वह तो 'रीतिमुक्त काव्यधारा' है। रीतिकाल में जिन कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा स्वच्छन्तापूर्वक 'प्रेम की कसक' या 'प्रेम की पीर' को जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया ऐसे कवियों को रीतिमुक्त काव्यधारा में माना गया है। इन्होंने लक्ष्य तथा लक्षण ग्रंथ नहीं लिखे, केवल मुक्तक काव्य की शैली में श्रंगार, नीति, वीर तथा तथा भक्ति की मुक्तक रचनाएँ रचीं। ऐसे कवियों में धनानन्द, बोधा, आलम, भूषण, ठाकुर, लाल, सूदन, बन्द तथा गिरधर आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

रीतिवादी काव्य को स्वछन्द काव्य–धारा भी कहते हैं। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्वच्छन्छतावादी काव्य व्यंजनाप्रधान होता है। उसमें सांकेतिकता अधिक होती है। इसलिए थोड़ी बहुत मात्रा में रहस्यवाद की प्रवत्ति भी उसमें आ जाती है। इस काव्य में रूप–सज्जा की प्रधानता नहीं होती, व्यक्तिगत अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति पर दष्टि रहती है। विक्टर ह्यूगो ने स्वच्छन्तावादी काव्य को रूढ़ियों से मुक्त बताया है, डंटन उसने चमत्कार और अनुभूति की प्रधानता मानते हैं तथा डा० हेज ने प्रेरणा (जीवन से) को इसका प्राण कहा है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस संदर्भ में कल्पना और भावावेग पर बल दिया है–'रोमांटिक साहित्य की उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के आंतरिक प्रवाह और निविड आवेग में दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व प्रधान साहित्य रूप की प्रधान जनती है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति के मुक्त रूप और जीवन में सहज प्रवाह को स्वच्छन्दतावादी साहित्य का प्रमुख विषय समझते हैं। उनके अनुसार शिष्ट साहित्य के साथ–साथ लोक साहित्य की धारा बहती रहती है, जिसमें जीवन की सहज और निश्छल अभिव्यक्ति होती है। जब शिष्ट साहित्य पंडितों और आचार्यों की रूढ़ियों में आबद्ध हो जाता है, तो भाव की सजीवता और स्फूर्ति जीवनगत दूसरी प्राकृतिक भाव धारा से ही प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार से परिवर्तन को सच्ची नैसर्गिक स्वच्छन्दता कहना चाहिए।

25. रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ

रीतिकालीन हिंदी साहित्य की रचना, जिन सामन्तीय परिस्थितियों में हुई, उस साहित्य को साधारण लोगों के जीवन से तो सम्बद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह साहित्य तो मूलतः दरबारी या शाही साहित्य था। आश्रित कवियों तथा आचार्यों ने जिस साहित्य की सष्टि की, उसमें तत्कालीन राजाओं या सामन्तों की श्रंगार वासना को तप्त करने के लिए सुरा, सुन्दरी, सुराही आदि के वर्णन के अतिरिक्त कविता रूपी कामिनी के अलंकरण एवं नख–शिख वर्णन पर ही जोर दिया गया। इस प्रकार रीतिकालीन साहित्यकारों की समस्त शक्ति एवं श्रम नारी–शरीर के रूप में ही लगी। ऐसे रीतिकालीन साहित्य में कृत्रिमता, अलंकरण एवं श्रंगारिकता की प्रधानता है। सारे रीतिकालीन हिंदी साहित्य में बहुत थोड़ा साहित्य ऐसा है जिसे उपयोगी तथा शक्ति का साहित्य कहा जा सकता है। वीररस–युक्त तथा नीति परक भी कुछ साहित्य रचा गया। समस्त रीतिकालीन काव्यधाराओं की विशेषताएँ इस प्रकार रही है।

1. **श्रंगारपरक भावों की प्रधानता** : समस्त रीति साहित्य में रतिभाव, कामभाव तथा वासना एवं भोगवादी दष्टिकोण ही प्रधान है। जिस प्रेम की पीर तथा अलौकिक प्रेम की भावना भक्तिकाल में देखी गई उसके विपरीत रीतिकाल में लौकिक प्रेम एवं श्रंगार भाव की ही प्रचुरता रीति साहित्य में व्याप्त है। भक्ति के माधुर्य भाव ने तो जैसे नग्न श्रंगारिकता की प्रवत्ति को खुली छूट ही दे दी थी। जीवन की सामान्य घटनाओं को भी नायक–नायिका के माध्यम से बड़े ही रसीले और श्रंगारपरक ढंग से प्रस्तुत किया जाता था। एक दोहा इस तथ्य के परिणाम के लिए पर्याप्त होगा जिसमें वर्षा ऋतु में फिसल जाने वाली घटना को भी श्रंगार एवं कामुक–भाव में प्रस्तुत किया गया है। एक सखी दूसरी सखियों से कह रही है।

   "हम सखी दाऊ ऐसे फिसले।
   वो भये ऊपर, मैं भई नीचे।।"

   अर्थात् नायक के साथ फिसलते हुए भी काम–वासना की अभिव्यक्ति की गई है। रीतिकाल में मुक्तक लिखने वाले कवियों ने उसी श्रंगार भावना की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में की जिसे उर्दू–फारसी के शायर, शीशे, मद (शराब) तथा पैमाने (चषक या प्याला) में ढालते रहे। एक रीतिकालीन कवि ने लिखा है–

"सेज है सुराही है, सुरा और प्याला है,
सुबाला है, दुशाला है, विशाला चित्रशाला है।"

ऐसे भाव वाली रचनाओं को ही देखकर उस समय की श्रंगार–प्रधान विलासी भावना का पता चलता है। श्रंगार रस के संयोग पक्ष का चित्रण अधिक हुआ है। वैसे वियोग का भी कुछ चित्रण हुआ है। इस सन्दर्भ में डा० नगेन्द्र लिखते हैं, "सोचा चाहे जैसा भी रहा हो इसमें ढली श्रंगारिकता ही।"

2. **अलंकरण की प्रवत्ति** : रीतिकालीन साहित्यकारों ने काव्य के क्षेत्र में आलंकारिता, प्रदर्शन तथा चमत्कारपूर्ण उक्तियों को अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनाया। उन्होंने अलंकारों को कविता रूपी कामिनी के लिए अनिवार्य घोषित किया। इसीलिए केशव ने तो यहाँ तक लिख दिया है–

   "जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवत्त।
   भूषन बिनु न विराजई कविता बनिता मित्त।।"

   अर्थात् कविता तथा वनिता चाहे कितनी ही उच्च जाति की क्यों न हो, अच्छे लक्षणों वाली सुवर्ण, रसीली तथा पुष्ट क्यों न हों परन्तु जब तक वे भूषण (अलंकार) धारण नहीं करती तब तक शोभा नहीं पा सकती।

   इसी कारण रीतिकाल के अधिकांश साहित्यकारों ने अलंकारों के सहारे ही अपनी रचनाएँ रचीं। अलंकार शास्त्र ही उस समय का साहित्यशास्त्र माना जाता था।

3. **भक्ति एवं लोक-जीवन का चित्रण** : रीतिकालीन रचनाकारों का मुख्य प्रतिपाद्य तो श्रंगार रस ही रहा परन्तु उनकी रचनाओं में माधुर्य, भक्ति तथा लोक जीवन की नीति संबंधी भी कुछ रचनाएँ मिलती हैं। लेकिन उनकी संख्या है बहुत कम। राधा और कृष्ण का माध्यम बनाकर कुछ श्रंगारपरक भक्ति काव्य भी रचा गया। उन्हें तो राधाकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए श्रंगारपरक मधुराभाव की भक्ति ही अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई। लोकाचार संबंधी जो मुक्तक अर्थात् नीतिपरक दोहे या कवित्त लिखे गए हैं उनमें भी श्रंगारी भाव छिपा है।

4. **मुक्तक काव्य शैली का प्रयोग** : काव्यरूपों तथा काव्यशैलियों की दष्टि से सोचा जाए तो रीतिकालीन रचनाकारों ने प्रबंध काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्यशैली को प्रमुखता प्रदान की। तत्कालीन आश्रयदाताओं को तुरंत प्रसन्न करने के लिए मुक्तक काव्यशैली की प्रवत्ति का खूब प्रसार हुआ क्योंकि मुक्तक काव्य चुने हुए फूलों का गुलदस्ता होता है जिससे दरबार को असानी से मोहित एवं प्रसन्न किया जा सकता है।

5. **वीररस की ओजस्वी प्रवत्ति** : रीतिकाल में ही भूषण कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में वीर रस का ऐसा सुन्दर एवं सरस चित्रण किया है कि उनका नाम अद्वितिय है। रीतिकाल में रचे गये साहित्य में वीर रस का अजस्र प्रवाह प्रतीत होने लगता है। इनसे संबंधित रचनाएँ मध्यप्रदेश, पंजाब, राजस्थान, हरियाणा आदि प्रदेशों के संग्रहालयों में सुरक्षित है।

6. **नारी विषयक दष्टिकोण** : रीतिकालीन साहित्य में नारी के प्रति यह दष्टिकोण रहा है कि उसे केवल भोग्या एवं भोग–विलास का साधन ही माना जाए। राज्याश्रित कवि भी अपनी कविता का केन्द्र नारी का नाख–शिख वर्णन मानते रहे। वे नारी के अंगों विशेषतः कच और कुचों में ही उलझे रहे। सौंदर्य का नग्न चित्रण ही उन्हें प्रिय रहा। नारी के बाह्य रूप–रंग को ही महत्त्व दिया जाता रहा। नारी जीवन के प्रति रीति कवियों का ऐसा संकुचित एवं एकांगी दष्टिकोण निश्चित रूप से मुगल शासक की विलासी प्रवत्ति का परिणाम कहना चाहिए।

7. **रीतिकाव्य में प्रकृति चित्र्वण** : रीतिकालीन काव्य में रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में प्रकृति का चित्रण विशेष रूप से आलम्बन रूप में की किया है। संयांग–श्ंगार में सुखद तथा वियोग श्ंगार में दुःखद प्रकृति का चित्रण हुआ है। षड्ऋतु वर्णन तथा बारहमासा चित्रण भी किया गया है। वियोग की अवस्था में प्रकृति के सुखद उपादान भी दुःखद हो जाते हैं। ऐसे चित्रण बड़े ऊहात्मक भी हो गये हैं, क्योंकि चन्द्रमा की चांदनी वियोगिनी नायिका के लिए कसाई का काम करती हुई दिखाई गई है।

8. **कामशास्त्रीय चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर** : रीतिकालीन साहित्य में स्त्री–पुरुष के यौन–सम्बन्धों को वात्स्यायन के कामसूत्र तथा कोका के कोकशास्त्रीय आधार पर चित्रित करते हुए जिस मनोवैज्ञानिक आधार की बात कही जाती है। उसे ही आधुनिक युग में फ्रायडवादी दष्टिकोण कह दिया है। परन्तु रीतिकालीन रचनाकार तो संस्कृत की कामशास्त्रीय परम्परा से प्रेरित थे। रीतिकालीन साहित्य में कामुकता तथा ऐन्द्रियता की बहुत अधिकता है। नायक–नायिका भेद भी कामुक दष्टिकोण से ही किए गए हैं। पद्मिनी, हंसिनी, हस्तिनी तथा चित्रवणी आदि नायिकाएँ उनकी मानसिक तथा कामुक प्रवत्ति के आधार पर ही चित्रित की गई है।

9. **स्वतंत्र चिन्तन का अभाव** : रीतिकालीन रचनाकारों ने अपनी आजीविका के लिए जो साहित्य रचा उसमें मौलिकता तथा स्वतंत्र चिन्तन की अत्यन्त कमी दिखती है। उन्हें तो अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुसार नायक–नायिका भेद अथवा काम–क्रीड़ाओं का ही अधि ाक चित्रण करना था। संस्कृत साहित्य से विषय–वस्तु लेकर उसे लोकभाषा में रूपान्तरित करके ही उन्हें सन्तुष्ट होना पड़ता था।

10. **यथार्थ जीवन के प्रति विचार** : रीतिकालीन हिंदी साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण प्रवत्ति यही है कि उसमें यथार्थ जीवन के प्रति गहरी अभिरुचि दिखाई गई है। रीतिकालीन कवियों एवं आचार्यों का जीवनदर्शन ही ऐसा था जिसमें जीवन तथा यौवन का पूर्ण उपयोग करना था। डा० भागीरथ मिश्र ने रीतिकालीन रचनाकारों को यौवन तथा बसन्त के कवि कहा है। उसे मस्ती से भरा मदमाता जीवन दर्शन कह सकते हैं। जहां जीवन का ऐसा विश्राम–स्थल समझा गया कि सब प्रकार की दौड़–धूप से शान्त होकर नारी के आंचल की मधुर छाया में, मदिरा के चषकों में उंडेल दिया हो। दुःखों एवं पराभावों को भूल कर जीवन को जीने की ही नहीं अपितु भोगने और पेश करने की प्रवत्ति से जो आशावादी दष्टिकोण विकसित हुआ उससे तत्कालीन समाज को यदि कुछ न मिला हो पर आश्रयदाताओं तथा आश्रित कवियों में तो कम से कम जीवित रहने की प्रबल इच्छा पनपी।

11. **रीतिकालीन संदर्भ काव्यभाषा** : प्रत्येक युग के साहित्यकार अपने परिवेश तथा मानसिक दबाव के कारण अपने साहित्य में कुछ विशिष्ट शब्दों मुहावरों, विशेषणों तथा लोकोक्तियों को अपनी अभिव्यंजना पद्धति में सम्मिलित करते हैं। रीतिकालीन कवियों ने भी ऐसा ही किया, 'राध' और 'कृष्ण' शब्दों का प्रयोग साधारण नायक–नायिका के रूप में होने लगा। रीतकालीन हिंदी काव्य में फारसी के प्रभाव के कारण ऐसी अभिव्यंजना शैली का विकास हुआ तो कृत्रिम तथा ऊहात्मक थी।

12. **रागात्मक प्रवत्ति** : भक्तिकाल में प्रकृति और निवत्ति दोनों ही जीवन मार्गों पर चलने वाले साहित्य की रचना हुई परन्तु रीतिकाल में तो रागात्मक वत्ति अथवा प्रवत्ति मार्ग को ही अपनाया गया है। स्वींकीया तथा परकीया दोनों प्रकार की नायिकाओं के माध्यम से जिस लौकिक प्रेम अथवा रागात्मक वत्ति की कविता रची गई है, उनमें वैराग्य भाव या निवत्ति मार्ग तो नगण्य ही है।

13. **ब्रजभाषा की प्रधानता** : रीतिकालीन हिंदी साहित्य की अधिकांश काव्य भाषा तो ब्रज ही है पर कुछ नीतिसाहित्य पंजाबी, कन्नौज, हरियाणवी तथा अवधी भाषा में भी रचा गया है। भाषा की दष्टि से रीतिकालीन हिंदी साहित्य में माधुर्य गुण की कोमलता अत्यन्त आकर्षक है। लोक ब्रज को साहित्य के उच्च स्तर तक ही नहीं बल्कि उच्च शिखर पर पहुँचाने का कार्य हिन्दी के रीतिकालीन रचनाकारों ने किया।

14. **स्पर्धा की प्रवत्ति** : रीतिकालीन साहित्यकारों में प्रतिस्पर्धा एवं प्रतियोगिता की भावना भी मिलती है। इसी कारण प्रत्येक रचनाकार अपनी रचना की उत्कृष्टता की स्थापना के लिए अधिक से अधिक चमत्कारपूर्ण शृंगार साहित्य की रचना करता रहा। रीति कवियों में आचार्यत्व को प्राप्त करने की भी स्पर्धा रही। ऐसी स्पर्धा में गंभीरता संबंधी विचारों का अभाव था।

15. **साहित्य की अनेकानेक प्रवत्ति** : रीतिकाल को भारतीय संस्कृति और साहित्य का पुनरुत्थान काल कहा गया है। इस युग में ज्ञान का क्षेत्र अनेक दिशाओं में विस्तत हुआ। रीतिकालीन आचार्य एवं कवि को अनेक विषयों का विद्वान होना आवश्यक था। उसे ज्योतिष, हस्त, सामुद्रिक, कामशास्त्र, अंक विधा, संगीतशास्त्र, चित्रकला आदि का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए था। इस दष्टि से तो रीतिकालीन हिंदी साहि त्य मे अनेक कलाओं को पुनः स्थापित किया गया है।

26. रीतिकालीन गद्य साहित्य

आधुनिक काल में जो गद्य पूर्ण वैभव के साथ प्रारंभ हुआ उससे पहले रीतिकाल में गद्य को दढ़ भित्ति पर खड़े होने का समय मिल गया था। इस समय में अनेक मौलिक रचनाएँ गद्य में हुई। बहुत सी रचनाएँ अनुवाद करने के रूप में प्रकाश में आई। संस्कृत के पुराने ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद करके सबको सुलभ कराने के प्रयास ने अनूदित गद्य का बड़ा विस्तत रूप प्रस्तुत किया। रामायण, महाभारत, पुराण, हितोपदेश आदि के अनुवाद गद्य में हुए। उनमें रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषा योग वशिष्ठ' बड़ी प्रसिद्ध रचना है। एक और प्रव़ृत्ति जो टीका–व्याख्या की चली उसने भी गद्य को बहुत आगे बढ़ाया। रीतिकाल के आचार्य–कवियों ने अनेक संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रंथों की टीकाएँ की। चिन्तामणि, भिखारीदास, सोमनाथ इस दष्टि से जाने–माने आचार्य हैं। उन्होंने कवि कुल कल्पतरू, काव्यनिर्णय, रस पीयूषनिधि नामक ग्रंथों में काव्यशास्त्र की टीका परक गद्य प्रस्तुत किया। इसके साथ ही हिन्दी कविता के अनेक ग्रंथ, जैसे–विनयपत्रिका, रामचन्द्रिका, कविप्रिया, रसिकप्रिया (बिहारी) सतसई आदि पर टीका–परक गद्य निर्मित हुआ और भी बहुत से ऐसे ग्रंथ लिखे गये जो कविता में थे पर उनको गद्य में सरलीकृत करके या उनकी टीका करके प्रस्तुत किया गया। हिंदी गद्य का यह पूरी तरह से विकासमान परिवेश बन गया। उसके अनेक रूप देखने में आते हैं।

भक्तिकाल और रीतिकाल में ब्रजभाषा का वर्चस्व रहा है। अपनी सरलता, कोमलता एवं काव्योचित विशेषताओं के कारण कवियों ने कविता के लिए ब्रज भाषा को बहुत अधिक अपनाया था। रीतिकाल से पूर्व भी और रीतिकाल में आकर तो ब्रजभाषा में गद्य–लेखन की प्रवत्ति वेग से देखने में आती है। काव्य के ग्रन्थों का रीतिकाल में चलन बढ़ा तो उसकी टीकाएँ भी सामने आईं और वे प्रायः ब्रजभाषा में ही लिखी गई। विद्वानों ने ब्रज भाषा गद्य के अनेक रूप गिनाये हैं, जैसे वार्ता, जीवनी, पत्र, संवाद, वचनिका, टीका, ललित गद्य आदि। ब्रजभाषा गद्य में वर्णित विषय धर्म, दर्शन, इतिहास, ज्योतिष, चित्रकारी, काव्यशास्त्र आदि हैं। ब्रज भाषा गद्य गें वार्ता–साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है। उसमें अधिकतर वे रचनाएँ हैं जो धार्मिक हैं या किसी धर्म–सम्प्रदाय के तत्वों को निरूपित करती हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' इसी प्रकार की हैं। इनमें क्रमशः बल्लाभचार्य के शिष्यों और उनके पुत्र विट्ठलनाथ के शिष्यों के जीवन चरित्र हैं। बहुत सी वार्ताओं और वचनामतों को संकलित

और संपादित करने का श्रेय स्वामी हरिदास को है। उन्होंने स्वयं भी बहुत सी वार्ताएं लिखी हैं। उनके वचनामत ऐसे हैं जिनमें उस समय के इतिहास की भी झांकी मिल जाती है। कुछ वचनामतों के नाम ये हैं–चौरासी बैठक चरित्र, वन यात्रा गिरिधर दास की बैठकन के चरित्र, नित्य सेवा प्रकार आदि।

अन्य विषयों की ग़द्य रचनाएँ भी ध्यान देने योग्य हैं – वैधक ग्रन्थ जैसे अश्वचिकित्सा, ग्रंथ जैसे वेदान्त निर्णय, गरुड़ पुराण व पद्मपुराण अनुवाद, चाणक्य नीति अनुवाद, हितोपदेश अनुवाद, मानस की टीका, बिहारी की सतसई का टीका, रसिक प्रिया टीका, हित चौरासी का गद्य पद्यमय टीका आदि अनेक ग्रंथ ब्रजभाषा के हैं।

खड़ी बोली में गद्य साहित्य

रीतिकाल में खड़ी बोली का स्वतंत्र रूप में गद्य–प्रयोग नहीं मिलता। जिस प्रकार आदिकालीन गद्य में कहीं–कहीं और भक्तिकालीन गद्य में कुछ अधिक प्रयोग खड़ी बोली के मिलते हैं उसी प्रकार रीतिकाल में भी मिलते हैं। इस काल में कुछ अधिक विस्तार हुआ है। खड़ी बोली का गद्य दूसरी भाषाओं के गद्य के साथ मिला हुआ दिखलाई देता है। अधिकतर ब्रजभाषा गद्य में खड़ी बोली का गद्य मिला हुआ है। पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी में भी खड़ी बोली गद्य का मिश्रित रूप देखने में आता है। यह गद्य अधिकतर साहित्येत्तर विषयों से संबंध रखने वाला अधिक है। उसमें अध्यात्म दर्शन वैघक ज्योति इतिहास, भूगोल आदि विषय मिलते हैं। ब्रज, पंजाबी, उर्दू आदि के साथ मिश्रित रूप में लिखी गई खड़ी बोली गद्य की कुछ रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं–फर्सनाम, सुरासुर निर्णय, मोक्षमार्गप्रकाश, चिद्विलास रीतिकाल में खड़ी बोली गद्य का एक रूप टीका और अनुवादों में प्रयुक्त खड़ी बोली है। इनमें से कुछ रचनाएँ पंजाबी, फारसी मिश्रित ध्यान देने योग्य हैं–भाषा योग वशिष्ठ, भाषा पद् पुराण, आदिपुराण वचनिका, सूर्य सिद्धान्त आदि।

ब्रज भाषा मिश्रित खड़ी बोली वाली टीकाओं में प्रमुख रूप से निम्नलित्रित टीकाएँ ध्यान देने योग्य हैं :–

प्रवचनसार टीका	–	पंडित हेमराज
भाषामत गीता टीका	–	भगवानदास
जपु टीका	–	आनन्द धन
बिहारी सतसई	–	इसवी खां
रानी केतकी की कहानी	–	इंशा अल्लाह खां

उपर्युक्त गद्य रचनाएँ खड़ी बोली के मिश्रण का उदाहरण है। धीरे–धीरे खड़ी बोली अन्य भाषाओं के साथ मिलकर अपना स्थान बना रही थी। इनमें से कुछ रचनाएँ उर्दू फारसी के अधिक मिश्रण की हैं, कुछ ब्रज की हैं। कहीं तत्सम शब्दावली की प्रधानता है कहीं विदेशी शब्दों की।

दक्खिनी गद्य-साहित्य

रीतिकाल में दक्खिनी गद्य भक्तिकाल की तरह उर्दू फारसी मिश्रित रूप में मिलता है। सूफी संतों, साधुओं और धर्म सम्प्रदाय के अनुयायी व्यक्तियों के अनुवाद किये गये ग्रंथ इसमें अधिक हैं। साहित्येत्तर रचनाएं वैघक, इतिहास आदि की तथा पत्र हुकमनामे भी इसी गद्य में लिखे गये मिलते हैं। इस समय की कुछ दक्खिनी गद्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं :– रिसाले बजूदि़या (शाहबुरहाहीन कादरी), मंजमखफी (मुहम्मद शरीफ) रिसाले तसव्वुफ (अब्दुल हमीद)। इस गद्य में बहुत सी रचनाएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनके लेखकों के नाम ज्ञात नहीं हैं। इतिहास संबंधी ग्रंथ भी हैं और वैघक भी हैं। ये सब रचनाएं उर्दू शैली की हैं और हिंदी की एक शैली के रूप में उर्दू की यह शैली हिंदी के अधिक निकट है।

राजस्थानी गद्य साहित्य

राजस्थानी गद्य साहित्य का विकास रीतिकाल में पर्याप्त मात्रा में हुआ। इस गद्य में वचनिका, दवावैत, पत्र, वंशावली, पदावली अनेक तरह का गद्य मिलता है। कहीं तुकमय गद्य मिलता है उसमें धर्म, दर्शन, अध्यात्म, इतिहास, ज्योतिष, वैधक, तंत्रमंत्र आदि विषयों को निरूपित किया गया है इस गद्य में बात जैसी विधा प्रसिद्ध है। बात में गद्य पद्य मिश्रित रचना होती है। ये 'वात' कई प्रकार की होती हैं। ये इतिहास सम्मत भी होती है और काल्पनिक भी। कुछ प्रसिद्ध 'वात' इस प्रकार हैं–'राव राम सिंह से वात, सिद्धराज जयसिंह री वात, रावरिणमल री वात, सयणी चारिणी री वात, गोरा बादल री वात। वचनिका के रूप में जो राजस्थानी गद्य मिलता है उसमें भी अनेक रचनाएँ हैं।

राजस्थानी ललित गद्य की रचनाएं भी रीतिकाल में मिलती हैं, जैसे–दलपति विलास, बीतानेर री ख्यात, बांकीदास री ख्यात, सीसोदिया री वंसावली। पट्टे परवाने जन्म पत्रियाँ भी इसमें हैं।

भोजपुरी और अवधी में गद्य साहित्य

रीतिकालीन गद्य साहित्य के कुछ नमूने भोजपुरी भाषा में की मिलते हैं। फणीन्द्र मिश्र का 'पंचायत का न्यायपत्र' अवधीमिश्रित भोजपुरी का उदाहरण माना गया है। और भी कागज पत्र इस तरह की मिश्रित गद्य के विद्वानों ने खोज निकाले हैं। अवधी भाषा का गद्य प्रायः ब्रजभाषा के गद्य के मिश्रण के साथ मिलता है। उनमें से कुछ प्रमुख गद्य रचनाएँ इस प्रकार हैं –

मानसटीका	–	रामचरणदास
रसविनोद	–	भानु मिश्र
व्यवहारवाद	–	प्रियादास
कबीर बीजक	–	महाराज विश्वनाथसिंह

हिंदी साहित्य गद्य की उपभाषाओं में निहित का कारण यह है कि जिस समय ब्रज भाषा में काव्य रचना का बोलबाला था। अवधी भोजपुरी की कविता अपने क्षेत्र में चल रही थी। धीरे–धीरे कविता की भाषा से जैसे ब्रज भाषा में गद्य को देखा गया, उसी तरह भोजपुरी और अवधी में भी पद्य से गद्य में भाव व्यक्त करने का चलन बना। आधुनिक काल में जो विकास हुआ, विभिन्न भाषाओं के गद्य–प्रयोग उस विकास के पूर्व सूचक हैं।

रीतिकाल में अनेक गद्य–विधाओं में साहित्य सर्जना हुई है अर्थात् कहानी, वार्ता, चरित्र, प्रवचन, नाटक, टीका, भाव आदि अनेक रूपों में रीतिकालीन गद्य–साहित्य प्राप्त होता है। गद्य के इन विविध रूपों में धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल, काव्यशास्त्र, व्याकरण आदि विषयों का वर्णन मिलता है।

रीतिकालीन गद्य साहित्य अपने पूर्ववर्ती गद्य साहित्य से पर्याप्त समद्ध है। कवित्व के प्रति आसक्ति, दरबारी संस्कृति का दबाव, रसिकता आदि के कारण रीतिकालीन गद्य का समग्र विकास नहीं हो पाया, लेकिन रीतिकालीन गद्य ने आधुनिक गद्य की अनेक विधाओं में लेखन की ओर अग्रसर जरूर कर दिया।

27. रीतिकालीन प्रतिनिधि रचनाकार

27.1 बिहारी

जन्म :

इनका जन्म ग्वालियर के पास बसुवा गोविंद पुर गाँव में संवत् 1660 के लगभग माना जाता है। एक दोहे के मुताबिक इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखण्ड में बीती और तरुणावस्था में ये अपनी ससुराल मथुरा में आकर रहने लगे थे।

साहित्यिक देन

श्रंगार रस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और मान–सम्मान 'बिहारी सतसई' का हुआ उतना किसी और रचना का नहीं। इसका एक–एक दोहा हिंदी–साहित्य में एक–एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासी रचनाएं टीकाएं रची गई। बिहारी ने 'सतसई' के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ नहीं लिखा। यही ग्रंथ उनकी इतनी बड़ी कीर्ति का आधार रहा है। यह बात साहित्य–क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिणाम के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचा है, उसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है। मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा–प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है।

भाव व्यंजना या रस व्यंजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तु व्यंजना का सहारा भी बहुत लिया है। विशेषतः शोभा या कांति, सुकुमारता विहरताप, विरह की क्षीणता आदि के वर्णन में कहीं कहीं इनकी वस्तु–व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खिलवाड़ के रूप में हो गई है।

श्रंगार वर्णन

बिहारी ने श्रंगार को अपने काव्य में विशेष स्थान प्रस्तुत किया है। श्रंगार के संचारी भावों की व्यंजना की ऐसी मर्मस्पर्शी है कि कुछ दोहे सहृदयों के मुंह से बार–बार सुने जाते हैं।

भाषा

बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़–मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है।

27.2 भूषण

जन्म :

भूषण का जन्म संवत् 1670 में हुआ था। वीर रस के कवि भूषण चिंतामणि और मतिराम के भाई थे। चित्रकूट के सोलंकी राजा रूद्र ने इन्हें कवि भूषण की उपाधि दी थी तभी से ये भूषण नाम से प्रसिद्ध हो गए। उनका असली नाम क्या था इसका अभी तक कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। ये कई राजाओं के यहां पर अपने काव्य का सजन करते रहे थे।

साहित्य को भूषण की देन

भूषण की कविता कवि कीर्ति संबंधी एक अविचल सत्य का दष्टांत है। जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकर करेगा उस कवि की कीर्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी। भूषण शिवाजी के दरबार में पहुंचने के पहले और राजाओं के पास भी रहे थे। उनके प्रताप आदि की प्रशंसा भी उन्हें अवश्य ही करनी पड़ी होगी पर वह झूठी थी, इसी से टिक न सकी। पीछे से भूषण को भी अपनी उन रचनाओं से विरक्ति हुई होगी। इनके 'शिवराज–भूषण', 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दसक' में ग्रंथ मिलते हैं। इनके अतिरिक्त 3 ग्रंथ और कहे जाते हैं –'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' और 'भूषण हजारा'।

भूषण वीर रस के कवि थे। इधर इनके दो–चार कवित्व शृंगार के भी मिलते हैं, पर वे गिनती के योग्य नहीं हैं। रीतिकाल के कवि होने के कारण, भूषण ने अपना प्रधान ग्रंथ 'शिवराज–भूषण' अलंकार के ग्रंथ के रूप में बनाया।

भाषा

भूषण की भाषा में ओज की मात्रा तो पूरी है पर वह अधिकतर अव्यवस्थित हैं। व्याकरण का उल्लंघन प्राय है और वाक्य–रचना भी कहीं–कहीं गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त शब्दों के रूप भी बहुत बिगड़ गये हैं और कहीं–कहीं बिलकुल गठंत के शब्द ही रखे गये हैं।

27.3 मतिराम

जन्म :

ये रीतिकाल के मुख्य कवियों में से हैं। इनका जन्म तिकवाँपुर (जिला कानपुर) में संवत् 1674 के लगभग हुआ था।

साहित्यिक अवदान

ये बूंदी के महाराजा भावसिंह के यहां बहुत समय तक रहे और उन्हीं के आश्रय में अना 'ललितललाम' नामक अलंकार का ग्रंथ संवत् 1716 और 1745 के बीच के समय में रचा। इनका 'छंदसार' नामक पिंगल का ग्रंथ महाराज शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित है। इनका परम मनोहर ग्रंथ 'रसराज' किसी को समर्पित नहीं है। इनके अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ और हैं–'साहित्यसार' और 'लक्षण शृंगार'। बिहारी सतसई के ढंग पर इन्होंने एक 'मतिराम सतसई' भी बनाई जो हिंदी पुस्तकों की खोज में मिली है। इसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहों के समान ही हैं।

मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी भाषा अत्यंत स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की। भाषा शब्दाडम्बर से सर्वथा मुक्त है। इस प्रकार की स्वच्छ, चलती और स्वाभाविक भाषा रीति ग्रंथवाले कम कवियों में मिलती है। मतिराम की सी रसस्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करने वालों में बहुत ही कम मिलती है।

'रसराज' और 'ललितललाम' मतिराम के ये दो ग्रंथ बहुत ही प्रसिद्ध रहे हैं। क्योंकि रस और अलंकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। वास्तव में ये अपने समय के अनुपम ग्रंथ हैं। उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलंकारों का अभ्यास होता चलता है। 'रसराज' का तो कहना ही क्या है। 'ललितललाम' में भी अलंकारों के उदाहरण बहुत सरस और स्पष्ट हैं। इसी सरसता और स्पष्टता के कारण ये दोनों ग्रंथ इतने लोकप्रिय रहे हैं।

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में पद्म को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती।

27.4 देव

जन्म :

इनका जन्म संवत् 1730 के लगभग हुआ था। ये इटावा के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। कुछ लोगों ने इन्हें कान्यकुब्ज सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है। इनका पूरा नाम देवदत्त था।

साहित्यिक अवदान

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में शायद सबसे अधिक ग्रंथ रचना देव ने की है। इनकी रची पुस्तकों की संख्या 52 है और कई विद्वान 72 तक बतलाते हैं। इनके प्रसिद्ध ग्रंथों में – भाव–विलास, अष्टयाम, भवानी–विलास, सुजान–विनोद, प्रेम तरंग, कुशल–विलास, देवचरित्र, रस–विलास, पावस–विलास, आत्म–दर्शन पचीसी, रसानंद, प्रेमदीपिका, सुमिल–विनोद, राधिका विलास आदि रहे हैं।

देव आचार्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्यत्व के पद के अनुरूप कार्य करने में रीतिकाल के कवियों में पूर्ण रूप से कोई भी समर्थ नहीं हुआ।

कवित्व शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी पर उनके सम्यक् स्फुरण में उनकी रुचि प्रायः बाधक हुई है। कभी–कभी वे कुछ बड़े और पेचीदे विषय का हौसला बांधते थे पर अनुप्रास के आडंबर की रूचि बीच ही में उसका अंग–भंग करके पद्य को कीचड़ में फंसा छकड़ा बना देती थी। अधिकतर इनकी भाषा में प्रवाह पाया जाता है। कहीं–कहीं शब्द व्यय बहुत अधिक है और अर्थ अल्परीतिकाल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा–सम्पन्न कवि थे, इसमें संदेह नहीं। इस काल के बड़े कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है। कहीं–कहीं इनकी कल्पना बहुत सक्षम और दूरारूढ़ है। इनका सा नवोन्मेष बिरले ही कवियों की रचनाओं में मिलता है।

27.5 दास (भिखारी दास)

जन्म :

ये प्रतापगढ़ (अवध) के पास टयोंगा गाँव के श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने अपना वंश–परिचय पूरा दिया है। इनके पिता कृपालदास, पितामह वीरभानु प्रपितामह राय रामदास और वद्ध पितामह राय नरोत्तमदास थे। दास जी के पुत्र अवधेशलाल और पौत्र गौरीशंकर थे जिनके सुपुत्र मर जाने पर वंश परंपरा खंडित हो गई।

काव्य रचनाएं एवं अन्य ग्रंथ

दास के ग्रंथ–रससारांश छंदीर्ण पिंगल, काव्यनिर्णय, श्ंगारनिर्णय, नामप्रकाश, विष्णु पुराण भाषा, छंद प्रकाश, शतरंज–शतिका, अमप्रकाश आदि रहे हैं।

साहित्यिक देन

काव्यांगों के निर्माण निरुपण में दास को सर्वप्रधान स्थान दिया जाता है, क्योंकि उन्होंने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण–दोष, शब्द शक्ति आदि सब विषयों का औरों से अधिक विस्तत प्रतिपादन किया है। इनकी विषय–प्रतिपादन शैली उत्तम है और आलोचना शक्ति भी इनमें कुछ पाई जाती है। हिंदी काव्य क्षेत्र में इन्हें परकीया के प्रेम की प्रचुरता दिखाई पड़ी जो रस की दष्टि से रसामास के अन्तर्गत आता है। बहुत से स्थलों पर तो राधा–कृष्ण का नाम आने से देवकाव्य का आरोप हो जाता है और दोष का कुछ परिहार हो जाता है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ है।

दास ने साहित्यिक और परिमाजित भाषा का व्यवहार किया है। श्ंगार ही उस समय का मुख्य विषय रहा है। इनका श्ंगार–निर्णय अपने ढंग का अनूठा कार्य है। उदाहरण मनोहर और सरस हैं। भाषा में शब्दाडंबर नहीं है। न ये शब्द चमत्कार पर टूटे हैं, न दूर की सूझ के लिए व्याकुल हुए हैं।

इनकी रचना कलापक्ष में संयत और भावपक्ष में रंजनकारिणी है।

27.6 घनानन्द

जन्म :

घनानन्द का जन्म 1673 के लगभग बुलन्दशहर जिले के कायस्थ परिवार में हुआ था।

जीवन परिचय

घनानन्द दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह रंगीला के दरबार में मीर मुन्शी थी। ये उसी बादशाह के दरबार की सुजान नामक एक वेश्या से प्रेम करते थे। एक बार बादशाह के कहने पर भी घनानन्द ने गाकर नहीं सुनाया, परन्तु सुजान के कहने पर इन्होंने आत्म–विभोर हो गाया। इस कारण बादशाह के कोप का शिकार होना पड़ और दिल्ली छोड़नी पड़ी परन्तु सुजान, कहने पर भी उनके साथ नहीं गई। उसकी विरह–भावना को लेकर इन्होंने सरस–मुक्तकों की रचना की। इनका काव्य हृदयानुभूति से निकला हुआ काव्य है।

प्रमुख रचनाएँ

इनकी प्रमुख रचनाओं में 'सुजान सागर', 'विरहलीला', 'कोकसागर', 'घन आनन्द कवित्त', 'सुजानहित प्रबन्ध', 'वियोग बेलि', 'प्रीति–पावस' एवं 'सुजान–विनोद' आदि हैं।

काव्यगत प्रमुख विशेषताएँ

सौंदर्य वर्णन – घनानंद का प्रेम रूप–जन्य है। कवि ने मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार में रहकर सुजान–वेश्या से वस्तुतः प्रेम किया था और यह प्रेम इसलिए हुआ क्योंकि सुजान रूप का आगार थी। सुजान के अंग–प्रत्यंग में सौंदर्य की ऐसी तरंगें उठती थीं मानो क्षणभर में ही चू पड़ेगी। सुजान का ऐसा रूप नित नवीन लगने वाला है।

संयोग में वियोग का आनन्द

घनानन्द के प्रेम की एक अभूतपूर्व विशेषता उनके संयोग में वियोग का वर्णन है। यदि प्रेमी भूले से स्वप्न में भी क्षणभर के लिए उन्हें दिखाई दे जाता है तो उन्हें यह चिन्ता हो जाती है कि कुछ समय पश्चात वह फिर चला जाएगा। ऐसी स्थिति केवल घनानन्द के काव्य में ही मिलती है।

सात्विक प्रेम निरूपण

घनानन्द का प्रेम रूप जन्य है, नितांत लौकिक है। इसलिए उनकी प्रेमानुभूति मिल–सुख से सुवसित है। उसमें रति सुख है। उनके प्रेमकाव्य में आलिंगन, मिलन, परिरम्भण आदि हैं।

कला-पक्ष

कला–पक्ष की दृष्टि से घनानन्द की काव्य–भाषा ब्रज भाषा है। लेकिन अभिव्यंजना की दृष्टि से वह व्यावहारिक, सजीव व्याकरण सम्मत एवं पूर्णतया साहित्यिक है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

साहित्येतिहास-दर्शन का क्या अभिप्राय है?

साहित्येतिहास लेखन की कितनी विधियाँ हैं?

साहित्येतिहास लेखन की अकारादिद्रम विधि से क्या अभिप्राय है?

कालक्रम विधि से क्या अभिप्राय है?

परिस्थिति - प्रवत्तिमूलक विधि पर प्रकाश डालिए।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल के नामकरण एवं काल सीमा पर प्रकाश डालिए।

आदिकालीन सांस्कृतिक व साहित्यिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।

आदिकालीन साहित्य-सामग्री का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

सिद्ध साहित्य का संक्षिप्त में विवेचन कीजिए।

जैन साहित्य का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

नाथ साहित्य पर टिप्पणी लिखिए।

विद्यापति का साहित्यिक परिचय लिखिए।

अमीर खुसरो के साहित्यिक परिचय दीजिए।

भक्तिकाल की सामाजिक परिस्थितियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

भक्तिकाल की साहित्यिक परिस्थिति का विवरण दीजिए।

भक्तिकाल के गद्य साहित्य पर प्रकाश डालिए।

संत काव्यधारा के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।

सूफी काव्यधारा के वैशिष्ट्य का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

राम काव्यधारा के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।

कृष्ण काव्यधारा के वैशिष्ट्य का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

भक्तिकालीन काव्य की उपलब्धि पर प्रकाश डालिए।

चैतन्य या गौड़ीय सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

कृष्ण काव्यधारा में प्रकृति चित्रण पर टिप्पणी कीजिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची :—

1. हिन्दी साहित्य का इतिहासः आचार्य रामचंद्र शुक्ल
2. हिन्दी साहित्य का इतिहासः डॉ. नगेन्द्र एवं हरदयाल
3. हिन्दी साहित्य का आदिकालः डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास : हृदयेश मिश्र
5. हिन्दी भाषा का इतिहास : भोलानाथ तिवारी

MATS UNIVERSITY

MATS CENTER FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

UNIVERSITY CAMPUS : Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

RAIPUR CAMPUS: MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

T : 0771 4078994, 95, 96, 98 M : 9109951184, 9755199381 Toll Free : 1800 123 819999

eMail : admissions@matsuniversity.ac.in Website : www.matsodl.com